अग्निशिखा
अखिल भारतीय पत्रिका – जून २०१८

# सारा जीवन ही योग है
(भाग-१)

# विषय-सूची

## सारा जीवन ही योग है (भाग-१)


| | | |
|---|---|---|
| सन्देश/सम्पादकीय | | ३ |
| पूर्णयोग का सिद्धान्त | श्रीअरविन्द | ५ |
| भागवत कर्मों का योग | श्रीअरविन्द | २० |
| श्रीमाँ के वचन | | २६ |
| अतिमानवता के पथ पर (भूमिका) | अनु. अर्चना माहेश्वरी | ३५ |


### 'पुरोधा'


| | | |
|---|---|---|
| दैनन्दिनी | | ४२ |
| श्रीअरविन्द के पूर्णयोग की साधना | नारायण प्रसाद 'बिन्दु' | ४६ |
| एक साधिका के नाम पत्र | 'श्रीमातृवाणी' खण्ड १६ से | ५२ |
| साक्षात् उतर आये थे... | वन्दना | ५६ |



**अग्निशिखा**

**श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका**

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष–१८०रु.; तीन वर्ष–५२०रु.; पाँच वर्ष–८६०रु.

अधिष्ठाता : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू, पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत

**सम्पादिका : वन्दना**

Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www. aurosociety.org

# सन्देश

इस योग की साधना का कोई बँधा हुआ मानसिक अभ्यासक्रम या ध्यान का कोई निश्चित प्रकार अथवा कोई मन्त्र या तन्त्र नहीं है, बल्कि यह साधना साधक के हृदय की अभीप्सा से आरम्भ होती है; साधक अपनी ऊर्ध्वस्थित या अन्तःस्थित आत्मा पर ध्यान लगाता है, अपने-आपको भागवत प्रभाव की ओर, हमारे ऊपर स्थित भागवत शक्ति और उसके कार्य की ओर तथा हृदय में विद्यमान भागवत उपस्थिति की ओर उद्घाटित कर देता है और जो कुछ इन बातों के लिए विजातीय है उस सबका परित्याग कर देता है। केवल श्रद्धा, अभीप्सा तथा आत्मसमर्पण के द्वारा ही यह आत्मोद्घाटन हो सकता है।

—श्रीअरविन्द

*सम्पादकीय* : योग-समन्वय पुस्तक श्रीअरविन्द के प्रमुख ग्रन्थों में से एक है जो पहले-पहल 'आर्य' में १९१४ से १९१९ के बीच में सिलसिलेवार छपी थी। इस पुस्तक में श्रीअरविन्द और श्रीमाँ के योग का सम्पूर्ण ब्योरा है।

जून तथा जुलाई के अंक में हम इस पुस्तक के कुछ अंशों को उद्धृत कर रहे हैं।

इस अंक में हम एक प्रमुख लेख की भूमिका भी दे रहे हैं जिसे श्रीमाँ ने बहुत ही सराहा था। आश्रम के साधक, सत्प्रेम की एक फ्रेंच किताब (अतिमानवता के पथ पर) की भूमिका है यह। माँ चाहती थीं कि इस भूमिका का सभी भाषाओं में अनुवाद हो और यह सर्वत्र फैले। हिन्दी में पहली बार यह प्रकाशित हो रही है। पुस्तक हिन्दी में अभी तक नहीं छपी है।

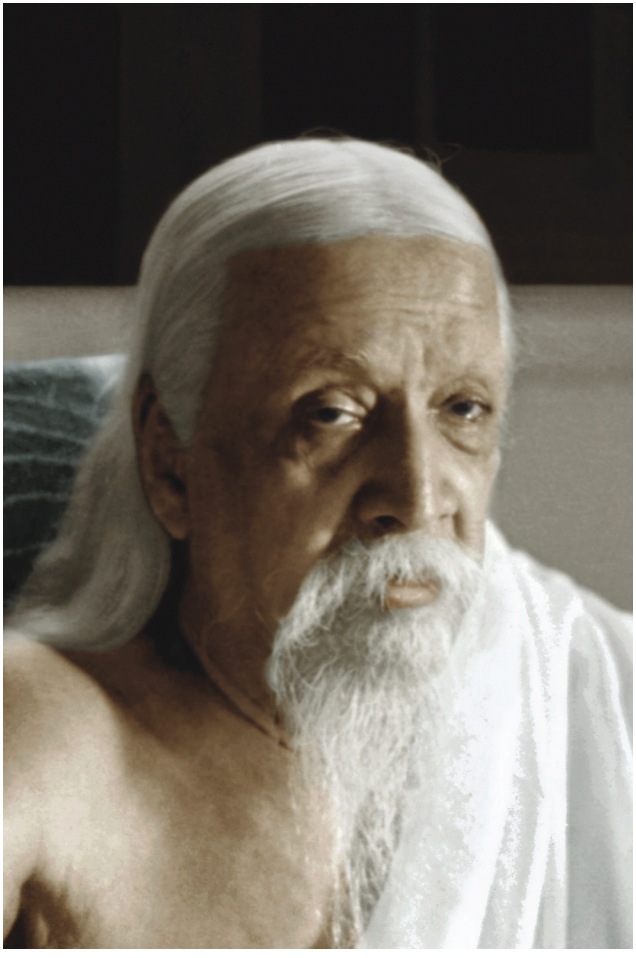

जब प्रकाश उस निश्चेतना के अन्दर प्रवेश कर जाता है जो हमारी सत्ता को अपने बाड़े के अन्दर घेरे हुए है और हमारे अन्दर सच्ची चेतना की अभिव्यक्ति को रोकती या सीमित करती है, जब वह आदतों और पुनरावर्तनों का तथा उन्हीं पुरानी उद्दीपक वस्तुओं की सतत आवृत्ति का निरोध करता है जो अवचेतना से उठ कर हमें घेर लेती हैं, तभी प्रकृति पूर्णतया मुक्त हो सकती और केवल ऊपर से आने वाले सत्य को प्रत्युत्तर दे सकती है।

—श्रीअरविन्द

# पूर्णयोग का सिद्धान्त

**हठयोग**

हठयोग की मुख्य क्रियाएँ 'आसन' और 'प्राणायाम' हैं। कई तरह के आसनों, यानी, बैठने की नियत स्थितियों के द्वारा सबसे पहले व्यक्ति स्वयं को चञ्चलता से मुक्त करता है। वैश्व जीवन के महासागर में गहरे पैठ जाने पर उसे जिस अचञ्चलता की प्राप्ति होती है वह उसे एक असाधारण प्रकार का स्वास्थ्य, बल तथा नमनीयता प्रदान करती है, साथ ही वह उसे उन रूढ़ अभ्यासों से मुक्त कर देती है जो व्यक्ति को सामान्य भौतिक प्रकृति से बाँधे रखते हैं और उसे उसकी सामान्य क्रियाओं की तंग सीमाओं में घेरे रहते हैं। हठयोग की प्राचीन परम्परा में लोग यहाँ तक मानते थे कि शरीर पर प्राप्त इस विजय को इतनी दूर तक ले जाया जा सकता है कि हो सकता है कि व्यक्ति काफ़ी हद तक गुरुत्त्वाकर्षण-शक्ति पर भी विजय पा ले। हठयोगी का अगला चरण है, कई प्रकार की गौण लेकिन जटिल प्रक्रियाओं के द्वारा शरीर को सभी प्रकार की अपवित्रताओं से मुक्त कर देना तथा स्नायविक प्रणाली को श्वास-प्रश्वास की क्रियाओं के द्वारा पूर्णतया स्वस्थ रखना। हठयोग में श्वास-प्रश्वास का बहुत महत्त्व होता है। इन्हें ही प्राणायाम कहते हैं, अर्थात्, श्वास अथवा प्राणिक शक्ति पर नियन्त्रण रखना, क्योंकि श्वास लेना प्राणिक शक्तियों की मुख्य भौतिक क्रिया है। इसके परिणामस्वरूप शरीर की पूर्णता प्राप्त होती है। प्राणिक शक्ति भौतिक प्रकृति की बहुत-सी आवश्यकताओं से मुक्त हो जाती है और व्यक्ति बढ़िया स्वास्थ्य, लम्बा यौवन और प्रायः ही असाधारण रूप से लम्बी आयु प्राप्त कर लेता है। दूसरी ओर, प्राणायाम प्राणकोष में प्राणिक ऊर्जा की सर्पाकार कुण्डलिनी-शक्ति को जगा देता है तथा योगी के सामने चेतना के ऐसे क्षेत्र, अनुभव की ऐसी शृंखलाएँ तथा असामान्य शक्तियाँ खोल कर रख देता है जो सामान्य मानव जीवन में प्राप्त नहीं होतीं। साथ ही वह उन सामान्य शक्तियों तथा क्षमताओं को भी—जो योगी के पास पहले से हैं—अत्यधिक सबल बना देता है।

CWSA खण्ड २३, पृ. ३४

**राजयोग**

राजयोग की प्रारम्भिक क्रिया होती है एक सतर्क आत्म-नियन्त्रण की क्रिया, जिसके द्वारा निम्न स्नायविक सत्ता को सन्तुष्ट करने वाली नियमरहित क्रियाओं के स्थान पर मन के अच्छे अभ्यास डाले जाते हैं। तब सत्य के अभ्यास द्वारा, अहंकार से भरी खोज के सभी पहलुओं के त्याग से, दूसरों को हानि न पहुँचाने की प्रवृत्ति से और पवित्रता से तथा निरन्तर ध्यान लगाने और उन दिव्य पुरुष के प्रति आकर्षण से—जो मानसिक राज्य के सच्चे स्वामी हैं—व्यक्ति के अन्दर मन और हृदय की एक शुद्ध, प्रसन्न तथा निर्मल अवस्था स्थापित हो जाती है।

लेकिन यह तो बस पहला क़दम है। इसके बाद मन और इन्द्रियों की सामान्य क्रियाओं को एकदम से शान्त बना देना चाहिये ताकि अन्तरात्मा चेतना के उच्चतर स्तरों तक चढ़ सके और एक पूर्ण स्वाधीनता तथा आत्म-संयम के लिए आधार तैयार कर सके, लेकिन साथ ही राजयोग यह नहीं भूलता कि सामान्य मन की अयोग्यता इस बात में है कि वह स्नायविक प्रणाली और शरीर की प्रतिक्रियाओं के अधीन रहता है। इस कारण वह हठयोग की प्रणाली के आसन और प्राणायाम के तरीक़े तो ग्रहण कर लेता है, लेकिन वह उनके जटिल रूपों को एक सरल किन्तु प्रभावशाली प्रक्रिया में बदल देता है। इस प्रकार वह हठयोग की बोझिलता से मुक्त रहते हुए सरपट आगे बढ़ता है। इनका उपयोग वह शारीरिक तथा प्राणिक क्रियाओं के नियन्त्रण तथा उस आन्तरिक ऊर्जा को प्राप्त करने के लिए करता है जो एक प्रसुप्त लेकिन असाधारण शक्ति से परिपूर्ण होती है। योग की भाषा में यह कुण्डलिनी के नाम से प्रसिद्ध है, यानी, अन्दर की कुण्डलित तथा प्रसुप्त सर्पाकार शक्ति। जब वह जाग जाती है तब राजयोग की प्रणाली और आगे बढ़ती है और अशान्त मन को पूरी तरह से शान्त कर देती है और उसे समाधि तक पहुँचाने वाली क्रमिक अवस्थाओं में से गुज़ारते हुए मानसिक शक्ति की एकाग्रता के द्वारा उच्चतर स्तर तक ले जाती है।
CWSA खण्ड २३, पृ. ३६

*पूर्णयोग का मार्ग आसान नहीं है। भागवत चेतना को पाना कठिन कार्य है, किन्तु निष्ठा और लगन से सफलता पाना निश्चित है। —श्रीमाँ*

## ज्ञानयोग

ज्ञान के पथ का उद्देश्य है—अद्वितीय तथा उच्चतम 'सत्ता' की प्राप्ति। यह बौद्धिक चिन्तन, अर्थात् विचार की प्रणाली के द्वारा वास्तविक विवेक-बुद्धि की ओर बढ़ता है। यह हमारी ऊपरी, अर्थात् दिखायी देने वाली सत्ता के विभिन्न तत्त्वों का निरीक्षण करता, उन्हें अलग-अलग करता है और साथ ही ख़ुद उनसे अलग-थलग रहते हुए उनके परस्पर-विरोध के सिद्धान्त को देखता-परखता है। ये विभिन्न तत्त्व प्रकृति की, यानी, दृश्यमान प्रकृति की—जिसे कुछ लोग माया कहते हैं—विभिन्न रचनाएँ हैं, और ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने के बाद ज्ञानयोग इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इस जगत् के सभी प्राणी—चर और अचर—विभिन्न होते हुए भी वास्तव में उसी 'परम तत्त्व' में उपस्थित हैं। इस प्रकार ज्ञानयोग एकमेव 'सत्ता' के साथ अपना ऐसा सच्चा तादात्म्य साध लेता है जिसे फिर न तो वह बदल सकता है और जो न ही नष्ट हो सकता है... इस दृष्टिकोण से इस मार्ग का—जिसका सामान्यतया अनुसरण किया जाता है—परिणाम यह होता है कि दृश्यमान जगतों को भ्रान्ति समझ कर चेतना से निकाल बाहर कर दिया जाता है और व्यक्तिगत आत्मा 'परम' सत्ता में अन्तिम रूप में लीन हो जाती है, और फिर वहाँ से लौटती ही नहीं।

CWSA खण्ड २३, पृ. ३८

## हमें जिस तरीक़े का अनुसरण करना है

हमारे योग में हमें यह तरीक़ा अपनाना है कि अहंभाव अपने समस्त क्षेत्र और समस्त साधनों के साथ धीरे-धीरे अपने-आपको उस परे के 'अहम्' को समर्पित करता चले जिसकी क्रियाएँ विशाल और अगणनीय, लेकिन हमेशा अनिवार्य होती हैं। निस्सन्देह यह साधना सरल नहीं है, न ही इसके रास्ते छोटे हैं। इसमें पहाड़-जैसे विश्वास की, पूर्ण साहस की और, सबसे बढ़ कर, अडिग धैर्य की आवश्यकता पड़ती है। इसमें एक के बाद एक तीन अवस्थाएँ आती हैं और केवल अन्तिम ही पूरी तरह आनन्द से भरी हुई और तेज़ गतिवाली होती है—पहली है, अहंभाव का भगवान् के सम्पर्क में आने के लिए किया गया प्रयास, दूसरी, दिव्य क्रिया के द्वारा समस्त निम्न प्रकृति की उच्चतर प्रकृति को ग्रहण करने और पूरी

तरह से वही बनने के लिए बड़ी भारी तैयारी, यह होता बहुत कठिन है, लेकिन साधक को पूरी तैयारी के साथ ही यह मार्ग अपनाना चाहिये; और अन्तिम है—पूर्ण रूपान्तर। लेकिन सच्ची बात तो यह है कि जो दिव्य 'शक्ति' प्रायः ही अनजाने में परदे के पीछे कार्य करती है स्वयं वही हमारी दुर्बलता का स्थान ले लेती है और जब-जब हम विश्वास, साहस और धैर्य खो बैठते हैं, तब-तब वह हमारी सहायता करती है। यह "अन्धे को देखने और लँगड़े को पहाड़ पर चढ़ने की सामर्थ्य प्रदान करती है।" बुद्धि तब ऐसे 'नियम' को जान लेती है जिसका आग्रह कल्याणकारी और शुभ होता है। हृदय तब सभी के 'स्वामी' की, मनुष्य के 'सखा' की या वैश्व 'माता' की चर्चा करता है जो माँ सभी संकटों में हमें थामे रहती है। इसीलिए यह मार्ग अत्यधिक कठिन होते हुए भी अपने प्रयास तथा उद्देश्य की विशालता की तुलना में अत्यधिक सरल और सुनिश्चित है।

CWSA खण्ड २३, पृ. ४६

## पूर्णयोग की तीन महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ

जब उच्च प्रकृति निम्न प्रकृति पर पूर्ण रूप में क्रिया करती है तब उसकी क्रिया की तीन महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ देखने में आती हैं। पहले यह कि वह एक स्थिर प्रणाली या क्रम के अनुसार कार्य नहीं करती जैसा कि योग की विशेष प्रणालियों में होता है। वह अपना कार्य एक प्रकार की स्वतन्त्र, विस्तृत लेकिन उत्तरोत्तर प्रभावशाली और उद्देश्यपूर्ण क्रिया के द्वारा करती है जो उस व्यक्ति के स्वभाव के द्वारा निर्धारित होती है जिसमें वह कार्य करती है। उसका निर्धारण उन सहायक साधनों के द्वारा भी होता है जिन्हें व्यक्ति का स्वभाव प्रस्तुत करता है तथा उन बाधाओं के द्वारा भी जो वह पवित्रीकरण और पूर्णता के रास्ते में खड़ी करता है। इसलिए, एक प्रकार से इस मार्ग में प्रत्येक मनुष्य की योग-सम्बन्धी अपनी प्रणाली है।...

दूसरी यह कि चूँकि उच्च प्रकृति की प्रक्रिया सर्वांगीण है, अतः वह हमारी प्रकृति को उसी रूप में स्वीकार कर लेती है जिस रूप में वह हमारे पूर्व विकास के द्वारा संगठित हो चुकी है और फिर वह किसी भी मूल वस्तु को अस्वीकार किये बिना सभी कुछ को दिव्य तत्त्व में रूपान्तरित होने को बाध्य करती है। हमारे अन्दर की प्रत्येक वस्तु को एक शक्तिशाली

शिल्पी अपने हाथ में लेता है और उसे एक ऐसी वस्तु की स्पष्ट प्रतिमूर्ति में रूपान्तरित कर देता है जिसे वह आज एक अव्यवस्थित ढंग से प्रकट करने की चेष्टा करती है। उस सदा-विकसनशील अनुभव में हम यह देखना प्रारम्भ कर देते हैं कि यह निम्न अभिव्यक्त जगत् किस प्रकार निर्मित हुआ है और इसके अन्दर की सब चीज़ें, चाहे वे देखने में कितनी भी विकृत, तुच्छ या हीन क्यों न लगें, दिव्य 'प्रकृति' के समन्वय में किसी तत्त्व या क्रिया की ही थोड़ी-बहुत विकृत या अपूर्ण आकृति हैं।...

तीसरी यह है कि हमारे अन्दर की दिव्य 'शक्ति' समस्त जीवन का इस पूर्ण 'योग' के साधन के रूप में प्रयोग करती है। जगत् की परिस्थितियों के साथ हमारा प्रत्येक बाहरी सम्पर्क, उसके विषय का हमारा प्रत्येक अनुभव, चाहे वह कितना भी तुच्छ या कष्टपूर्ण क्यों न हो, इस कार्य के लिए प्रयुक्त किया जाता है, और प्रत्येक आन्तरिक अनुभव, यहाँ तक कि अत्यधिक अप्रिय कष्ट या अत्यधिक दीनतापूर्ण पतन भी पूर्णता के रास्ते पर आगे ले जाने का एक क़दम बन जाता है। तब हम संसार में प्रयुक्त भगवान् के तरीक़े को अपने अन्दर प्रत्यक्ष रूप में देखते हैं। हम अन्धकार में प्रकाश-सम्बन्धी उनके उद्देश्य को, दुर्बलों और पतितों में शक्ति-सम्बन्धी और दु:खियों और पीड़ितों में आनन्द-सम्बन्धी उनके उद्देश्य को देखते हैं। हम यह भी देखते हैं कि निम्न और उच्च दोनों प्रक्रियाओं में एक ही दिव्य प्रणाली का प्रयोग होता है। भेद केवल इतना होता है कि एक में उसका अनुसरण धीमे-धीमे और अस्पष्ट रूप में, प्रकृति में अवचेतन सत्ता के द्वारा किया जाता है, जब कि दूसरी में वह द्रुत गति से और सचेतन सत्ता के द्वारा कार्य करती है और तब मानव यन्त्र यह जानता है कि इसमें प्रभु का हाथ है। समस्त जीवन ही 'प्रकृति' का 'योग' है और अपने अन्दर भगवान् की अभिव्यक्ति करना चाहता है।

CWSA खण्ड २३, पृ. ४६-४७

## शास्त्रों का अतिक्रमण कर लेना

परन्तु पूर्णयोग के साधक के लिए यह याद रखना अत्यन्त आवश्यक है कि कोई भी लिखित शास्त्र शाश्वत 'ज्ञान' के केवल कुछ एक अंशों को ही प्रकट कर सकता है, भले उसकी प्रामाणिकता कितनी भी महान् क्यों

न हो अथवा उसकी भावना कितनी भी विशाल क्यों न हो। साधक शास्त्र का उपयोग करेगा, किन्तु महान्-से-महान् शास्त्र से भी वह अपने-आपको बाँधेगा नहीं। यदि धर्मशास्त्र गभीर, विशाल और उदार हो तो वह साधक के लिए अत्यन्त हितकर तथा महत्त्वपूर्ण हो सकता है। वह उसके लिए उत्कृष्ट सत्यों तथा उच्चतम अनुभूतियों की प्राप्ति का साधन बन सकता है। उसका योग दीर्घकाल तक एक ही शास्त्र या क्रमशः अनेक शास्त्रों के अनुसार चल सकता है, उदाहरणार्थ, यदि वह महान् हिन्दू परम्परा का अनुसरण करता है, तो वह गीता, उपनिषदों और वेद के अनुसार योग का अभ्यास कर सकता है। अथवा उसके विकास का अधिकतर भाग इस प्रकार का हो सकता है कि वह अनेक शास्त्रों के सत्यों के विविध अनुभवों की ऐश्वर्यराशि को अपने विकास के स्वरूप में समाविष्ट कर ले और अतीत में जो कुछ भी श्रेष्ठ था उस सबसे भविष्य को समृद्ध बना ले। परन्तु अन्त में उसे अपनी आत्मा की ही शरण लेनी होगी। अथवा इससे भी अच्छा यह होगा (यदि वह ऐसा कर सके तो) कि वह लिखित सत्य का अतिक्रमण करके—*शब्दब्रह्मातिवर्तते (गीता–६, ४४)*—और जो कुछ वह श्रवण कर चुका है एवं जो कुछ उसे अभी श्रवण करना है उस सबका—*श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च (गीता–२, ५२)*—अतिक्रमण करके सदा-सर्वदा और प्रारम्भ से ही अपनी आत्मा में निवास करे। कारण, वह एक पुस्तक या अनेक पुस्तकों का साधक नहीं है, वह अनन्त का साधक है। CWSA खण्ड २३, पृ. ५५-५६

## इस योग के परम पथ-प्रदर्शक

जिस तरह पूर्णयोग का परम शास्त्र वह सनातन वेद है जो प्रत्येक मनुष्य के हृदय में छिपा हुआ है, उसी तरह परम पथ-प्रदर्शक और गुरु वह अन्तःस्थित मार्गदर्शक और जगद्गुरु हैं जो हमारे अन्दर प्रच्छन्न रूप में विद्यमान हैं। वे ही हमारे अन्धकार को अपने ज्ञान की जाज्वल्यमान ज्योति से नष्ट कर देते हैं और उनकी ज्योति हमारे अन्दर उनके आत्म-प्राकट्य की बढ़ती हुई महिमा बन जाती है। वे हमारे अन्दर स्वातन्त्र्य, आनन्द, प्रेम, शक्ति और अमर सत्ता की अपनी ही प्रकृति को उत्तरोत्तर आविर्भूत करते हैं। वे हमारे लिए अपने दिव्य दृष्टान्त को हमारे आदर्श के रूप

में उपस्थित करते हैं और निम्नतर सत्ता को उस वस्तु की प्रतिच्छवि में परिणत कर देते हैं जिस पर यह अपनी निर्निमेष दृष्टि लगाये रहती है। वे अपने ही प्रभाव और अपनी ही उपस्थिति को हमारे अन्दर उँडेल कर हमारी वैयक्तिक सत्ता को विराट् तथा परात्पर सत्ता के साथ तादात्म्य प्राप्त करने के योग्य बना देते हैं।

उनकी पद्धति और उनकी प्रणाली क्या है? उनकी कोई भी पद्धति नहीं है और प्रत्येक पद्धति उन्हीं की है। जिन ऊँची-से-ऊँची प्रक्रियाओं तथा गतियों के प्रयोग में प्रकृति समर्थ है उनका स्वाभाविक संगठन ही उनकी प्रणाली है। वे गतियाँ तथा प्रक्रियाएँ अपने-आपको तुच्छ-से-तुच्छ ब्योरे की बातों में तथा अत्यन्त नगण्य दीखने वाले कार्यों में भी उतनी ही सावधानता तथा पूर्णता के साथ व्यवहृत करती हैं जितनी कि बड़ी-से-बड़ी बातों और कार्यों में। इस प्रकार वे अन्त में सभी चीज़ों को 'प्रकाश' में उठा ले आती हैं तथा सभी को रूपान्तरित कर देती हैं। कारण, उन जगद्गुरु के योग में कोई भी चीज़ इतनी तुच्छ नहीं कि उसका उपयोग ही न हो सके और कोई भी चीज़ इतनी महान् नहीं कि उसके लिए प्रयास ही न किया जा सके। जिस प्रकार परम गुरु के सेवक और शिष्य का अहंकार या अभिमान से कोई वास्ता नहीं, क्योंकि उसके लिए सब कुछ ऊपर से ही सम्पन्न किया जाता है, उसी प्रकार उसे अपनी निजी त्रुटियों या अपनी प्रकृति के स्खलनों के कारण निराश होने का भी कोई अधिकार नहीं; क्योंकि, जो शक्ति उसके अन्दर काम करती है वह निर्वैयक्तिक—या अतिवैयक्तिक (superpersonal)—और अनन्त है।

CWSA खण्ड २३, पृ. ६१-६२

## अहंकार भगवान् की क्रिया को नहीं समझ पाता

दिव्य क्रिया कोई वैसी क्रिया नहीं है जिसे अहंकारी मन चाहता या स्वीकार करता है। वह तो सत्य पर पहुँचने के लिए भ्रान्ति को, आनन्द पर पहुँचने के लिए दुःख को और पूर्णता पर पहुँचने के लिए अपूर्णता को काम में लाता है। अहंकार यह नहीं देख पाता कि वह किधर ले जाया जा रहा है; वह मार्गदर्शन के विरुद्ध विद्रोह करता है, विश्वास खो देता है, साहस छोड़ बैठता है। यदि केवल यही दुर्बलताएँ होतीं तो कोई

बड़ी बात नहीं थी; क्योंकि हमारे अन्तःस्थ दिव्य 'मार्गदर्शक' हमारे विद्रोह से रुष्ट नहीं होते, न तो वे हमारी श्रद्धा की कमी से निरुत्साहित होते हैं और न हमारी दुर्बलता के कारण उदासीन ही हो जाते हैं। उनमें माता का समस्त वात्सल्य और गुरु का अखण्ड धैर्य है। परन्तु, उनके नेतृत्व से अपनी अनुमति हटा लेने के कारण, हम सचेतन रूप में उसका लाभ नहीं उठा पाते, यद्यपि वह लाभ किसी अंश में फिर भी प्राप्त होता है और उसका अन्तिम परिणाम तो किसी भी अवस्था में नष्ट नहीं होता। और, हम अपनी अनुमति इसलिए हटा लेते हैं कि जिस निम्नतर सत्ता में से वे अपनी आत्म-अभिव्यक्ति तैयार कर रहे हैं उसमें और उच्चतर आत्मा में हम विवेक नहीं कर पाते। जैसे हम संसार में ईश्वर को नहीं देख पाते वैसे ही हम अपने अन्दर भी ईश्वर को देखने में असमर्थ होते हैं; कारण, उनकी कार्यशैलियाँ ही ऐसी हैं। हम उन्हें इसलिए भी नहीं देख पाते कि वे हमारे अन्दर हमारी प्रकृति के द्वारा ही काम करते हैं न कि एक के बाद एक मनमाने चमत्कारों से। मनुष्य चमत्कारों की माँग करता है जिससे वह विश्वास कर सके; वह चकाचौंध हो जाना चाहता है, ताकि वह देख सके। परन्तु हमारी यह अधीरता और अज्ञान महान् भय और संकट का रूप धारण कर सकते हैं यदि, दिव्य मार्गदर्शन के प्रति विद्रोह के भाव में, हम किसी अन्य विकारजनक शक्ति को, जो हमारे आवेगों और कामनाओं के लिए अधिक सन्तोषकारक होती है, अपने अन्दर बुला लें, उससे अपना पथ-प्रदर्शन करने को कहें और उसे ही भगवान् मान बैठें।

CWSA खण्ड २३, पृ. ६४-६५

## योग है, एक नूतन जन्म

अपनी प्रकृति में समस्त योग नवजन्म है; मनुष्य के साधारण मानसिक भौतिक जीवन से निकल कर उच्चतर आध्यात्मिक चेतना में, महानतर और दिव्यतर सत्ता में जन्म है। किसी भी योग को सफलतापूर्वक तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि मनुष्य उस महानतर आध्यात्मिक जीवन के प्रति जागने की प्रबल आवश्यकता का अनुभव न करे। इस गभीर और विशाल आन्तरिक परिवर्तन के लिए जिस आत्मा का आवाहन किया जाता है वह मनुष्य को योग के विभिन्न पथ सुझा सकती है। वह

इस पर अपने प्राकृतिक विकास के द्वारा पहुँच सकती है जो उसे अनजाने ही आध्यात्मिक जागरण की ओर बढ़ाये लिये जा रहा है, वह किसी धर्म के प्रभाव या किसी दर्शन के आकर्षण द्वारा इस राह पर आ सकती है। वह क्रमशः बढ़ते हुए ज्ञान के प्रकाश के द्वारा अथवा सहसा किसी स्पर्श या आघात के द्वारा एक छलाँग में भी इस पर पहुँच सकती है। वह बाहरी परिस्थितियों के दबाव या किसी आन्तरिक आवश्यकता के कारण, मन की मुहरों को छिन्न-भिन्न कर देने वाले किसी एक ही शब्द अथवा दीर्घ चिन्तन से, किसी अनुभवी के दूरस्थ उदाहरण से या सम्पर्क और दैनिक प्रभाव से इस पथ पर आ सकती है। वस्तुतः पुकार सदैव साधक की प्रकृति और परिस्थिति के अनुसार आती है।

लेकिन आत्मा चाहे कोई भी पथ दर्शाये, योग-पथ पर चलने के लिए मनुष्य के मन और इच्छा-शक्ति का संकल्प बहुत ज़रूरी हैं, परिणाम-स्वरूप आता है पूर्ण और प्रभावकारी आत्म-निवेदन। सत्ता में होनी चाहिये नूतन आध्यात्मिक विचार-शक्ति का स्वागत करने की उत्कण्ठा, ऊपर उठने की चाह, एक प्रबोधन, ऐसा संकल्प और हृदय की ऐसी अभीप्सा कि लीक से हट कर जीवन की दिशा परिवर्तित करनी है, रूपान्तर की ओर क़दम उठाना है। केवल परे की किसी उच्चतर चीज़ की कल्पना को या किसी उच्चतर बौद्धिक जिज्ञासा को हमारा मन चाहे जितनी दृढ़ता के साथ क्यों न अपना ले, लेकिन हमारे जीवन पर इसका तब तक कुछ भी प्रभाव न होगा जब तक हृदय इसे इस रूप में स्वीकार न कर ले कि यही एकमात्र करने-योग्य कार्य है। क्योंकि आत्मा के इस लक्ष्य को हमें केवल विचार का विषय ही नहीं बनाना है बल्कि इसे जीवन में उतारना है और इसके लिए सत्ता के सभी भागों की सम्मिलित स्वीकृति ज़रूरी है। जिस अति महान् परिवर्तन को यह योग लाना चाहता है वह विभक्त इच्छा-शक्ति से, या शक्ति के एक छोटे अंश से, या आगा-पीछा करने वाले मन से साधित नहीं हो सकता। **जो व्यक्ति भगवान् को पाना चाहता है उसे भगवान् के प्रति, केवल भगवान् के प्रति ही आत्म-निवेदन करना होगा।**

CWSA खण्ड २३, पृ. ६९-७०

## जो-जो आवश्यक है

हमारे लिए सबसे पहली आवश्यक बात यह है कि हम मन की उस केन्द्रीय श्रद्धा और दृष्टि को तिलाञ्जलि दे दें जिनके अनुसार यह एक चिरअभ्यस्त बहिर्मुखी संसार-व्यवस्था और घटनाक्रम में ही अपना विकास, सुख-सन्तोष और रस लाभ करने में अपनी सारी शक्ति लगाये रखता है। निश्चित रूप से इस बहिर्मुख झुकाव के स्थान पर हमें उस गभीरतर श्रद्धा और दृष्टि को सुप्रतिष्ठित करना होगा जो केवल 'भगवान्' को देखती और केवल 'भगवान्' की ही खोज करती है। दूसरी आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी सारी निम्नतर सत्ता को इस नवीन श्रद्धा और महत्तर दृष्टि के सम्मुख सीस नवाने के लिए बाधित करें। हमारी सारी प्रकृति को पूर्ण समर्पण करना होगा; उसे अपने-आपको अपने एक-एक अंग और एक-एक क्रिया समेत, उस वस्तु के प्रति सौंप देना होगा जो असंस्कृत इन्द्रिय-मानस को स्थूल संसार और इसके पदार्थों की अपेक्षा बहुत ही कम सत्य प्रतीत होती है। हमारी सम्पूर्ण सत्ता को—अन्तरात्मा, मन, इन्द्रिय, हृदय, इच्छाशक्ति, प्राण और शरीर को—अपनी सभी शक्तियों का अर्पण इतनी पूर्णता के साथ तथा ऐसे तरीक़े से करना होगा कि वह भगवान् का उपयुक्त वाहन बन जाये। पर यह कोई सरल कार्य नहीं है, क्योंकि संसार की प्रत्येक वस्तु अपने रूढ़ स्वभाव का, जो उसके लिए एक नियम होता है, अनुसरण करती है और मौलिक परिवर्तन का प्रतिरोध करती है। इसके विपरीत, पूर्णयोग एक ऐसी क्रान्ति के लिए प्रयास करता है जिससे बढ़ कर मौलिक रूपान्तर कोई हो ही नहीं सकता। इस योग में हमें अपने अन्दर की प्रत्येक चीज़ को बारम्बार केन्द्रीय श्रद्धा, संकल्प और दृष्टि की ओर फेरना होगा। प्रत्येक विचार और आवेग को उपनिषद् की भाषा में यह स्मरण कराना होगा कि दिव्य ब्रह्म वह है, न कि यह जिसकी लोग यहाँ उपासना करते हैं—*तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते (केनोपनिषद्,* १-४)। अपने प्राण के रेशे-रेशे को इस बात के लिए प्रेरित करना होगा कि आज तक जो चीज़ें उसकी सत्ता की प्रतिनिधि थीं उन सबको वह पूरी तरह से त्यागना स्वीकार कर ले। मन को मन ही बने रहना छोड़ कर अपने से परे की किसी वस्तु से प्रकाशमान बनना होगा। प्राण को एक ऐसी विशाल, शान्त, तीव्र और शक्तिशाली वस्तु में बदल जाना होगा जो अपनी

पुरानी अन्ध, आतुर एवं संकीर्ण सत्ता को या क्षुद्र आवेग एवं कामना को पहचान तक न सके। यहाँ तक कि शरीर को भी परिवर्तन में से गुज़रना होगा और आज की तरह एक तृष्णामय पशु या बाधक रोड़ा न रह कर आत्मा का सजग सेवक और तेजस्वी यन्त्र तथा जीवन्त आकार बनना होगा।
CWSA खण्ड २३, पृ. ७२-७३

## जिन भगवान् की हम उपासना करते हैं

जिन भगवान् की हम उपासना करते हैं वे केवल दूरस्थ, विश्व के परे की सद्वस्तु नहीं हैं, बल्कि एक अर्ध-आवृत अभिव्यक्ति हैं जो यहीं विश्व में हमारे पास और हमारे सामने विद्यमान है। जीवन भगवान् की एक ऐसी अभिव्यक्ति का क्षेत्र है जो अभी पूर्ण नहीं हुई है। यहीं, इसी जीवन में, इसी भूतल पर, इसी शरीर में—**इहैव**—जैसा कि उपनिषद् बार-बार कहते हैं, हमें देवाधिदेव को प्रकट करना है। उनकी परात्पर महिमा, ज्योति और मधुरिमा को हमें यहीं अपनी चेतना के लिए जीवित-जाग्रत् बनाना है, यहीं उन्हें पाना और यथासम्भव अभिव्यक्त करना है। अतः, अपने योग में हमें जीवन का पूर्ण रूपान्तर करने के लिए उसे अवश्य स्वीकार करना होगा। यह स्वीकृति हमारे संघर्ष में चाहे जो भी कठिनाइयाँ बढ़ा दे, उनसे हमें घबराना बिलकुल नहीं है। यद्यपि हमारा रास्ता बहुत अधिक ऊबड़-खाबड़ है, प्रयत्न अधिक जटिल, विकट और चकरा देने वाला है, यहाँ तक कि हताश कर देने वाला है, फिर भी इसके पुरस्कार-स्वरूप एक विशेष अवस्था के बाद हमें एक महान् लाभ प्राप्त होता है। जब एक बार हमारा मन केन्द्रीय दृष्टि में काफ़ी हद तक स्थिर हो जाता है और हमारी इच्छा-शक्ति समूचे रूप में उस एक ही उद्देश्य की ओर अभिमुख हो जाती है, तब जीवन स्वयं हमारा सहायक बन जाता है।

एकनिष्ठ, जागरूक तथा पूर्णतः सचेतन रह कर हम जीवन के रूपों की हर एक छोटी-मोटी बारीक़ी को और उसकी सभी चेष्टाओं को अपने अन्दर की यज्ञीय अग्नि के लिए हवि के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। संघर्ष में विजयी होकर, हम इस जड़ सत्ता तक को विवश कर सकते हैं कि यह पूर्णता की प्राप्ति में हमारी सहायक हो।
CWSA खण्ड २३, पृ. ७४

## एकाग्रता पहली शर्त है

निःसन्देह, किसी भी योग की पहली शर्त होती है एकाग्रता, लेकिन पूर्णयोग के असली स्वरूप के अनुसार यह एकाग्रता सर्वग्राही होनी चाहिये। इसमें सन्देह नहीं कि यहाँ भी विचारों, भावों या इच्छा-शक्ति को एक ही विषय, अवस्था, आन्तरिक गति या तत्त्व पर दृढ़ता से टिकाये रखने की आवश्यकता बारम्बार पड़ती है, लेकिन यह केवल एक गौण एवं सहायक प्रक्रिया है। इस योग की अधिक विशाल क्रिया है—सम्पूर्ण सत्ता को विशाल और बृहत् रूप में परम देव की ओर उद्घाटित करना और समग्र सत्ता को अपने सभी अंगों में तथा अपनी सभी शक्तियों के द्वारा उस एकमेव विश्वात्मा में एकस्वर से तन्मय करना। इसके बिना यह योग अपने लक्ष्य को सिद्ध नहीं कर सकता। कारण, हम उस चेतना को पाने के अभिलाषी हैं जो परम देव में निहित है और विश्व में कार्य करती है; उसी को हम अपनी सत्ता के एक-एक अंग की और अपनी प्रकृति की एक-एक क्रिया की अधिष्ठात्री बनाना चाहते हैं। विशालता और एकाग्रता से युक्त सम्पूर्ण सत्ता और प्रकृति ही इस साधना का सारभूत स्वरूप है और यह स्वरूप ही इसकी क्रिया-प्रणाली को निश्चित करेगा।

CWSA खण्ड २३, पृ. ७८-७९

## जिज्ञासु के हृदय में भगवान् विराजमान हैं

योग में ज्ञान तथा उसकी प्राप्ति के प्रयत्न से हमारा मतलब यह है कि हम 'एकमेव' पर अपने को इस प्रकार एकाग्र करें कि हमें अपने अन्दर तथा उस सबके अन्दर, जिससे हम अभिज्ञ हैं, उसकी उपस्थिति का जीवन्त साक्षात्कार और सतत अनुभव प्राप्त हो। इतना ही बस नहीं कि हम शास्त्रों के स्वाध्याय से या दार्शनिक तर्क-वितर्क के बल पर भगवान् को बुद्धि द्वारा समझने में अपने को उत्सर्ग कर दें। क्योंकि, अपने लम्बे मानसिक श्रम के अन्त में हम चाहे वह सब कुछ जान लें जो 'सनातन' देव के विषय में कहा गया है, वह सब कुछ आत्मसात् कर लें जो अनन्त के सम्बन्ध में सोचा जा सकता है, फिर भी सम्भव है कि हम उसे बिलकुल न जान पायें। इसमें सन्देह नहीं कि बौद्धिक तैयारी किसी भी शक्तिशाली योग में प्रथम अवस्था हो सकती है, किन्तु यह अनिवार्य नहीं है; यह कोई ऐसी

अवस्था नहीं है जिसमें से गुज़रना सबके लिए आवश्यक हो या जिसमें से गुज़रने को सबसे कहा जा सके। ध्यान-चिन्तन करने वाली बुद्धि ज्ञान की जिस बौद्धिक प्रतिभा को प्राप्त करती है वह यदि योग की आवश्यक शर्त या अनिवार्य प्रारम्भिक प्राप्ति हो तो योग इने-गिने लोगों के सिवा शेष सबके लिए असाध्य हो जाये। ऊपर से आने वाला प्रकाश अपना काम शुरू कर सकने के लिए हमसे जिस चीज़ की माँग करता है वह केवल आत्मा की पुकार है और है मन के अन्दर पर्याप्त मात्रा में समर्थन। वह समर्थन मन में बार-बार भगवान् का विचार करके, क्रियाशील अंगों में उसके अनुरूप संकल्प करके और अभीप्सा, श्रद्धा तथा हार्दिक कामना के द्वारा किया जा सकता है। यदि ये सब एकस्वर होकर या एकताल होकर न चल सकते हों तो इनमें से किसी को अग्रणी या प्रधान भी बनाया जा सकता है। विचार प्रारम्भ में असमर्थ हो सकता है और होगा ही; अभीप्सा संकीर्ण और अपूर्ण हो सकती है। श्रद्धा अल्प प्रकाशित हो सकती है, यहाँ तक कि, ज्ञान की चट्टान पर सुप्रतिष्ठित न होने के कारण चलायमान तथा अनिश्चित भी हो सकती है। वह आसानी से मन्द भी पड़ सकती है। यह भी सम्भव है कि वह बार-बार बुझ जाये और आँधीदार घाटी में मशाल की भाँति उसे कठिनाई से फिर-फिर प्रज्वलित करना पड़े। लेकिन, यदि साधक एक बार अन्तर की गहराई से दृढ़ आत्म-निवेदन कर दे और आत्मा की पुकार के प्रति जाग जाये तो ये अपूर्ण चीज़ें भी दिव्य प्रयोजन के लिए पर्याप्त साधन हो सकती हैं। इसलिए ज्ञानी लोग ईश्वर की ओर मनुष्य की पहुँच के मार्गों को सीमित कर देने में सदा ही संकोचशील रहे हैं। वे उसके प्रवेश के लिए तंग-से-तंग द्वार, सबसे नीची और सबसे अँधेरी खिड़की तथा तुच्छ-से-तुच्छ प्रवेश-पथ भी बन्द नहीं करना चाहते। कोई भी नाम, कोई भी रूप, कोई भी प्रतीक, कोई भी अर्घ्य पर्याप्त समझा गया है यदि उसके साथ आत्म-निवेदन का भाव हो; क्योंकि जिज्ञासु के हृदय में भगवान् अपने को विराजमान देखते हैं और यज्ञ को स्वीकार कर लेते हैं।
CWSA खण्ड २३, पृ. ८१-८२

## कामनामय पुरुष को प्रशिक्षित करना

अपने अन्दर की इस कामनाशील प्राणशक्ति या कामनामय पुरुष को हमें

शुरू में स्वीकार करना होता है, लेकिन केवल इसलिए कि इसका रूपान्तर किया जा सके। यहाँ तक कि सर्वथा प्रारम्भ से ही इसे सिखाना होता है कि यह और सभी इच्छाएँ त्याग कर केवल भगवत्प्राप्ति की कामना पर ही अपने-आपको एकाग्र करे। इस महत्त्वपूर्ण अवस्था के प्राप्त हो जाने के बाद इसे यह सिखाना होता है कि यह अपने पृथक् स्वार्थ के लिए नहीं, बल्कि संसारवासी ईश्वर और हमारे अन्तर्वासी भगवान् के लिए कामना करे। किसी भी व्यक्तिगत आध्यात्मिक लाभ में इसे ध्यान नहीं लगाना चाहिये, यद्यपि हमें निश्चय है कि समस्त सम्भव आध्यात्मिक लाभ हमें प्राप्त होगा। बल्कि, इसे उस महान् कर्म में ध्यान लगाना चाहिये जिसे हमारे और दूसरों के अन्दर करना है, उस उच्च, भावी अभिव्यक्ति पर जो संसार में भगवान् की एक भव्य चरितार्थता होने वाली है, उस परम सत्य पर जिसे खोजना, जीवन में लाना और सदा के लिए सिंहासनाधिरूढ़ करना है। परन्तु सबसे अन्त में इसे जो बात सिखानी होती है वह इसके लिए अत्यन्त कठिन है। वह है, ध्येय की ठीक प्रकार से खोज करना। यह बात ठीक ध्येय को खोजने की अपेक्षा भी कहीं अधिक कठिन है, क्योंकि इसे अपने अहंभावमय तरीक़े से नहीं, बल्कि भगवान् के तरीक़े के अनुसार कामना करना सीखना होगा। इसे परिपूर्णता की अपनी शैली का, लक्ष्य-प्राप्ति के अपने स्वप्न का, उचित और काम्य के विषय में अपने विचार का वैसा आग्रह करना सर्वथा छोड़ देना होगा जैसा कि प्रबल भेदमूलक इच्छा-शक्ति सदा ही किया करती है। एक अधिक विशाल और अधिक महान् इच्छा-शक्ति को चरितार्थ करने की इसे स्पृहा करनी होगी और एक कम स्वार्थासक्त तथा कम अज्ञ पथप्रदर्शन के द्वार पर प्रतीक्षा करने को राज़ी होना होगा। इस प्रकार शिक्षित होकर यह कामना, जो अत्यन्त चञ्चल है, जो मनुष्य को अत्यधिक हैरान और परेशान करती है तथा प्रत्येक प्रकार का स्खलन पैदा करती है, अपने दिव्य स्वरूप में परिणत होने-योग्य बन जायेगी।

CWSA खण्ड २३, पृ. ८४

## दिव्य मानवता या अतिमानसिक जाति का लक्षण

हमारे योग का उद्देश्य है—सीमित एवं बहिर्मुख अहं को बहिष्कृत कर देना और उसके स्थान पर ईश्वर को प्रकृति के नियन्ता अन्तर्यामी के रूप

में सिंहासनासीन करना। इसका तात्पर्य है—सबसे पहले कामना को उसके अधिकार से च्युत कर देना और फिर उसके सुख को प्रधान मानवीय प्रेरक भाव के रूप में कदापि स्वीकार न करना। आध्यात्मिक जीवन अपना पोषण कामना से नहीं, बल्कि मूल सत्ता के विशुद्ध और अहंकाररहित आध्यात्मिक आनन्द से प्राप्त करेगा। हमारी उस प्राणिक प्रकृति को ही नहीं, जिसकी निशानी कामना है, बल्कि हमारी मानसिक सत्ता को भी नूतन जन्म तथा रूपान्तरकारी परिवर्तन का अनुभव करना होगा। हमारे विभक्त, अहंपूर्ण, सीमित और अज्ञानयुक्त विचार एवं बोध को विलुप्त हो जाना होगा और इसके स्थान पर उस अन्धकारहित दिव्य प्रकाश की एक व्यापक एवं अविकल धारा को प्रवाहित होना होगा जिसका अन्तिम और सर्वोच्च रूप एक ऐसी स्वाभाविक स्वयं-सत् सत्य-चेतना हो जिसमें अन्धकार में खोजने वाला अर्ध-सत्य तथा स्खलनशील भ्रान्ति न हो। हमारे विमूढ़, व्याकुल, अहं-केन्द्रित तथा क्षुद्र-भावप्रेरित संकल्प एवं कर्म का अन्त हो जाना चाहिये और इनके स्थान पर एक तीव्र प्रभावशाली, ज्ञानपूर्वक स्वयंचालित और भगवान् से प्रेरित एवं अधिष्ठित शक्ति की पूर्ण क्रिया को प्रतिष्ठित होना चाहिये। हमारे सभी कार्यों में उस परम, निर्वैयक्तिक, अविचल और निर्भ्रान्त संकल्प को दृढ़ और सक्रिय होना चाहिये जो भगवान् के संकल्प के साथ सहज और शान्त एकत्व रखता हो। हमें अपने दुर्बल अहंकारमय भावों की अतृप्तिकर ऊपरी क्रीड़ा का बहिष्कार कर इसके स्थान पर उस निभृत, गभीर और विशाल अन्तरस्थ चैत्य हृदय को प्रकट करना होगा जो उन भावों के पीछे छिपा हुआ अपने मुहूर्त की प्रतीक्षा कर रहा है। इस अन्तरीय हृदय से—जिसमें भगवान् का वास है—प्रेरित होकर हमारे सभी भाव और अनुभव भागवत 'प्रेम' और बहुविध 'आनन्द' की दोहरी उमंग की प्रशान्त और प्रगाढ़ गतियों में रूपान्तरित हो जायेंगे। यही है दिव्य मानवता या अतिमानसिक जाति का लक्षण। यह मानव बुद्धि और क्रिया की कोई अतिरञ्जित या उदात्त ऊर्जा का कोई रूप नहीं है बल्कि अतिमानव का वह रूप है जिसके विकास के लिए हमें पृथ्वी पर अपना योग करने के लिए बुलाया गया है।

CWSA खण्ड २३, पृ. ९०-९१

# भागवत कर्मों का योग

## ईश्वर में निवास करना

हमारे प्रयत्न की निम्नलिखित शर्तें हैं और वे एक ऐसे आदर्श की ओर इंगित करती हैं जो इन सूत्रों में प्रकट किया जा सकता है—ईश्वर में निवास करना, अहं में नहीं। एक विशाल आधार पर प्रतिष्ठित होकर कार्य करना, क्षुद्र अहम्मन्य चेतना पर प्रतिष्ठित होकर नहीं, बल्कि विश्व-आत्मा और विश्वातीत परम देव की चेतना पर प्रतिष्ठित होकर कार्य करना।

सभी घटनाओं में और सभी सत्ताओं के प्रति पूर्णतया समभाव रखना और उन्हें इस रूप में देखना तथा अनुभव करना कि वे अपने साथ और भगवान् के साथ एक हैं। सभी को अपने में और सभी को ईश्वर में अनुभव करना; ईश्वर को सबमें तथा अपने-आपको सबमें अनुभव करना।

ईश्वर में निवास करते हुए कर्म करना, अहं में नहीं। यहाँ सबसे पहली बात यह है कि कर्म का चुनाव व्यक्तिगत आवश्यकताओं और मानदण्डों के विचार से नहीं, बल्कि ऊपर स्थित जीवन्त और सर्वोच्च सत्य के आदेश के अनुसार करना। इसके बाद, जैसे ही हम आध्यात्मिक चेतना में काफ़ी हद तक प्रतिष्ठित हो जायें, वैसे ही अपनी पृथक् इच्छाशक्ति या चेष्टा से कर्म करना छोड़ देना, बल्कि अपने से अतीत भागवत संकल्प की प्रेरणा और पथ-प्रदर्शन की छाया में कर्म को उत्तरोत्तर होने और बढ़ने देना। अन्त में, चरम फलस्वरूप, उस उच्च अवस्था में उठ जाना जिसमें हमें भागवत शक्ति के साथ ज्ञान तथा शक्ति, चेतना, कर्म और सत्ता के आनन्द में तादात्म्य प्राप्त हो जाता है। इसके साथ ही एक ऐसी प्रबल क्रियाशीलता अनुभव करना जो मर्त्य कामना, प्राणिक अन्ध-प्रेरणा, आवेग और मायामय मानसिक स्वतन्त्र इच्छा के वशीभूत न हो, बल्कि अमर आत्म-आनन्द और अनन्त आत्म-ज्ञान में ज्योतिष्मान् रूप से विकसित हो। यही वह सक्रियता है जो प्राकृतिक मनुष्य को, सचेतन रूप में, दिव्य आत्मा और सनातन आत्मा के अधीन और उसमें निमज्जित कर देने से प्रवाहित होती है। आत्मा ही वह सत्ता है जो सदा से इस जगत्-प्रकृति के परे है और इसे सञ्चालित करती है।

CWSA खण्ड २३, पृ. १०१

## सारे जीवन को हम सचेतन समर्पण का रूप दे दें

जो माँग हमसे की जाती है वह संक्षेप में यही है कि हम अपने सम्पूर्ण जीवन को एक सचेतन समर्पण का रूप दे दें। हमें अपनी सत्ता के प्रत्येक पल और प्रत्येक गति को सनातन देव के प्रति एक सतत और भक्तियुक्त आत्मदान में परिणत करना होगा। अपने सब कर्मों को, छोटे-से-छोटे और अत्यन्त साधारण एवं तुच्छ कर्मों को तथा बड़े-से-बड़े और अत्यन्त असाधारण एवं श्रेष्ठ कर्मों को, सभी को एकसमान, ईश्वरार्पण-भाव से करना होगा। हमारी व्यष्टिभावापन्न प्रकृति को एक ऐसी बाह्य तथा आन्तर क्रिया की अखण्ड चेतना में निवास करना होगा जो हमसे परे की, और अहं से महान् किसी वस्तु के प्रति निवेदित हो। यह कोई महत्त्व की बात नहीं कि हवि किस वस्तु की है और उसे हम किसकी भेंट चढ़ाते हैं, पर भेंट करते समय ऐसी चेतना होनी चाहिये कि सब सत्ताओं में विद्यमान एकमेव दिव्य परम सत्ता को ही हम यह वस्तु भेंट कर रहे हैं। हमारे अत्यन्त साधारण और अति स्थूल भौतिक कार्यों को भी ऐसा उदात्त रूप धारण करना होगा। जब हम भोजन करें, हमें इस रूप में सचेतन होना चाहिये कि हम अपना भोजन अपने अन्दर विराजमान उस दिव्य उपस्थिति को दे रहे हैं। अवश्य ही इसे मन्दिर में एक पवित्र आहुति होना चाहिये और केवल शारीरिक आवश्यकता या शारीरिक भोग का भाव हमसे दूर हट जाना चाहिये।...

जिन कार्यों में अति स्पष्ट रूप से प्रकृति स्वयं ही कर्त्री होती है और हम उसकी क्रिया के साक्षी, धारक और सहायक मात्र होते हैं उनमें भी हमें कर्म और उसके दिव्य स्वामी का ऐसा ही सतत स्मरण और स्थिर ज्ञान बनाये रखना चाहिये। हमारे अन्दर हमारे श्वास-प्रश्वास और हमारे हृदय की धड़कन तक को भी सचेतन बनाया जा सकता है और बनाना ही होगा। उन्हें विश्वव्यापी यज्ञ के जीवित-जाग्रत् लय-ताल के रूप में अनुभव करना होगा।

CWSA खण्ड २३, पृ. १११

*जीवन को मूल्य प्रदान करने वाली चीज़ है, भागवत उपस्थिति। यह उपस्थिति ही समस्त शान्ति और समस्त आनन्द का मूल है। इस उपस्थिति को अपने अन्दर खोज निकालो, सारी कठिनाइयाँ ग़ायब हो जायेंगी। —श्रीमाँ*

## सभी क्रियाओं में योगी का लक्ष्य

हमें सब कुछ यज्ञ के रूप में ही करना चाहिये, सभी कार्यों का लक्ष्य और उनके प्रयोजन का सार एकमेव भगवान् ही होने चाहियें।

जो विद्याएँ ज्ञान को बदलने में सहायक हैं उनके अध्ययन में योगी का लक्ष्य यह होना चाहिये कि वह मनुष्य में तथा प्राणियों, चीज़ों और शक्तियों में भागवत चित्-शक्ति की क्रियाओं तथा सृष्टि-सम्बन्धी उनके आशयों की खोज करे और उन्हें हृदयंगम करे, साथ ही वह उन रहस्यों एवं प्रतीकों का, जिनमें वे अपनी अभिव्यक्ति को व्यवस्थित करती हैं, कार्यान्वित करने के उनके तरीक़े को भी खोजे और समझे। व्यावहारिक विद्याओं में, चाहे वे मानसिक और भौतिक हों अथवा गुह्य और आन्तरात्मिक, योगी का लक्ष्य यही होना चाहिये कि वह भगवान् के तरीक़ों और उनकी गतिविधियों की तह में जाये और जो काम हमें सौंपा गया है उसकी साधन-सामग्री का ज्ञान प्राप्त करे जिससे हम आत्मा के रहस्य, आनन्द और आत्म-सिद्धि को सचेतन और निर्दोष रूप से प्रकट करने के लिए उस ज्ञान को काम में ला सकें।

कलाओं में योगी का लक्ष्य केवल सौन्दर्य-भावना की और मन या प्राण की तृप्ति करना नहीं, बल्कि यत्र-तत्र-सर्वत्र भगवान् को देखना, उनके कार्यों में उनके भाव और अर्थ का आत्म-प्रकाश अनुभव करते हुए उनकी पूजा करना तथा देवताओं, मनुष्यों, प्राणियों और चीज़ों में उन्हीं एकमेव भगवान् को व्यक्त करना होना चाहिये।...

योगी की दूसरे लोगों से विशेषता यह होती है कि वह एक उच्चतर तथा विशालतर अध्यात्म चेतना में निवास करता है; अतः उसकी समस्त ज्ञान-कृति या सर्जन-कृति निश्चय ही उसी अध्यात्म चेतना से उद्भूत होनी चाहिये, वह मन में नहीं गढ़ी जानी चाहिये, क्योंकि वह दृष्टि तथा सत्य मनोमय मनुष्य की दृष्टि एवं सत्य से अधिक महान् हैं जिनकी अभिव्यक्ति योगी करता है, अथवा यह कहना चाहिये कि वह दृष्टि तथा सत्य योगी की व्यक्तिगत सन्तुष्टि के लिए नहीं, बल्कि दिव्य प्रयोजन के लिए अपने-आपको उसके द्वारा प्रकट करने तथा उसके कार्यों को ढालने के लिए उस पर दबाव डालते हैं।
CWSA खण्ड २३, पृ. १४२-४३

## चैत्य सत्ता का आविर्भाव

योग में एक विशेष अवस्था में पहुँचने पर, जब मन पर्याप्त अचञ्चल हो जाता है और पहले की तरह पग-पग पर अपने मानसिक निश्चयों की क्षमता का आश्रय नहीं लेता, जब प्राण स्थिर और वशीभूत हो जाता है और अपनी अविवेकपूर्ण इच्छाशक्ति, माँग और कामना के सम्बन्ध में पहले की तरह निरन्तर आग्रहशील नहीं रहता, और जब शरीर को भी इतना बदल दिया जाता है कि वह आन्तरिक ज्वाला को अपनी बहिर्मुखता, जड़ता या निष्क्रियता के ढेर के नीचे पूरी तरह से दबा नहीं सकता, तब एक भीतर छिपी हुई और अपने विरल प्रभावों के समय ही अनुभूत होने वाली अन्तरतम सत्ता सामने आने में समर्थ हो जाती है, यह शेष अंगों को भी आलोकित कर सकती है तथा साधना का नेतृत्व अपने हाथ में ले सकती है। इसका स्वभाव ही है भगवान् या सर्वोच्च देव की ओर अनन्य अभिमुखता—एक ऐसी अनन्य अभिमुखता जो अनन्य होते हुए भी क्रिया तथा गति में नमनशील होती है। यह एकनिष्ठ बुद्धि की तरह किसी लक्ष्य की कट्टरता को अथवा एकनिष्ठ प्राणिक शक्ति की भाँति किसी प्रभुत्वशाली विचार या आवेग की हठधर्मिता को जन्म नहीं देती। हर क्षण और नमनशील असन्दिग्धता के साथ यह सत्य की ओर ले जाने वाले मार्ग का निर्देश करती है, सही क़दम और ग़लत क़दम में सहज ही भेद जतलाती है, दिव्य या ईश्वरमुखी गति को अदिव्य वस्तु के चिमटने वाले मिश्रण से पृथक् कर देती है। इसका कार्य एक जाज्वल्यमान मशाल के समान है जो उस सबको स्पष्ट दिखा देती है जिसे प्रकृति में बदलना है। इसमें संकल्प की एक अग्नि है जो पूर्णता के लिए और समस्त आन्तर तथा बाह्य सत्ता के रूपान्तरकारी परिवर्तन के लिए आग्रह करती है। यह सर्वत्र दिव्य सारतत्त्व ही देखती है और आवरण एवं आवरक आकार का परित्याग कर देती है। यह सत्य, संकल्प-शक्ति, बल, प्रभुत्व तथा हर्ष, प्रेम एवं सौन्दर्य की आग्रहपूर्वक माँग करती है तथा स्थिर ज्ञान के उस सत्य की भी जो अज्ञान के व्यावहारिक क्षणिक सत्य का अतिक्रमण कर जाता है, केवल प्राणिक सुख की नहीं, बल्कि माँग करती है आन्तरिक हर्ष की, क्योंकि यह पतनकारी सुखों की अपेक्षा पवित्रीकारक कष्ट-कलेश को कहीं अधिक पसन्द करती है; यह उस प्रेम की माँग नहीं करती जो अहंकारमय

लालसा के खूँटे से बँधा हुआ है या जिसके पैर पंक में फँसे हुए हैं, बल्कि ऊँची उड़ान लेने वाले प्रेम की, उस सौन्दर्य की जो सनातन का निरूपण करने के अपने पुरोहित-पद पर प्रतिष्ठित है तथा अहं की नहीं, बल्कि आत्मा के यन्त्रों के रूप में काम आने वाले बल, संकल्प और प्रभुत्व की आग्रहपूर्वक माँग करती है। इसका संकल्प जीवन को दिव्य बनाने, उसके द्वारा उच्चतर सत्य को अभिव्यक्त करने और उसे भगवान् तथा सनातन सत्ता पर उत्सर्ग कर देने के लिए होता है।

CWSA खण्ड २३, पृ. १५४-५५

## चैत्य पुरुष की सबसे घनिष्ठ विशेषता

चैत्य पुरुष की सबसे घनिष्ठ विशेषता है, पवित्र प्रेम, आनन्द तथा एकत्व के द्वारा भगवान् को पाने की भरपूर चेष्टा करना। उसकी सबसे उत्कट आकांक्षा होती है, भागवत प्रेम को पाना। प्रभु के लिए प्रेम ही उसकी प्रेरणा, उसका लक्ष्य, 'सत्य' का उसका वह सितारा होता है जो हमारे अन्दर के नवजात देवत्व के नवोदित या अभी भी अन्धकार से ढके पालने की प्रकाशमय गुहा पर चमक रहा होता है। अपने विकास की पहली अवस्था में, जब तक चैत्य हमारे अन्दर पूरी तरह छाया नहीं रहता, वह पार्थिव प्रेम, दुलार, कोमलता, सद्भावना, दयालुता, शुभेच्छा तथा समस्त सुन्दरता, मृदुता, सूक्ष्मता, प्रकाश और बल तथा साहस का सहारा लिये रहता है, यानी उन सब गुणों को विकसित करना चाहता है जिनकी सहायता से मानव प्रकृति की समस्त स्थूलता और साधारणता को सुसंस्कृत तथा सुपवित्र बनाया जा सके। लेकिन वह यह भी जानता है कि अपने उत्तम से उत्तम रूप में भी ये सभी मानव गतियाँ दूसरी गतियों से बहुत मिली-जुली होती हैं और साथ ही यह भी कि अपने निकृष्टतम रूप में ये कितनी गिरी हुई होती हैं और साथ ही अहंकार, आत्म-वञ्चना और मिथ्यात्व से भरी होती हैं। लेकिन एक बार चैत्य अपने पूरे आवेग में उठ आये तो वह हमारे अन्दर के सभी पुराने बन्धनों और अपूर्ण भावनात्मक गतियों को जड़ से उखाड़ कर, उनके स्थान पर प्रेम तथा एकता के महानतर आध्यात्मिक 'सत्य' को बिठाने के लिए लालायित रहता है। हो सकता है कि फिर भी वह मानव रीतियों और गतियों को स्वीकार कर ले लेकिन

इसी शर्त पर कि वे 'एकमेव' देव की ओर मोड़ दी जायेंगी। वह केवल उन्हीं सम्बन्धों को स्वीकार करता है जो सहायक होते हैं—हृदय में गुरु के लिए मान-सम्मान, भगवान् के अभीप्सुओं के साथ तादात्म्य, इस अज्ञानी मानव और पशु-जगत् तथा इसके निवासियों के लिए एक आध्यात्मिक करुणा और सौन्दर्य का वह हर्ष, सुख एवं सन्तोष जो सर्वत्र भगवान् के दर्शन करने से ही प्राप्त होता है। ... वह मनुष्य के स्वभाव को परात्पर आनन्द की ओर मोड़ देता है और ऊपर 'उच्चतम' की ओर उड़ान भरने के लिए अपने पंखों से समस्त निम्न आकर्षण को झाड़ फेंकता है, लेकिन साथ ही वह उस परम 'प्रेम' तथा 'आनन्द' से प्रार्थना करता है कि वे इस धरती पर उतर कर इसे अपने आलिंगन में भर लें ताकि यहाँ का अन्धकार और अज्ञान ख़तम हो जायें।

## 'सारा जीवन ही योग है'

*योग का कोई भी ऐसा समन्वय सन्तोषप्रद नहीं हो सकता जिसका लक्ष्य 'भगवान्' और 'प्रकृति' का मानव-जीवन के साथ सामञ्जस्य बिठलाना न हो। यानी, मानव-जीवन की आन्तरिक तथा बाहरी क्रियाओं में मेल बैठा कर उस जीवन को भगवान् के साथ जोड़ना ही योग का सच्चा अर्थ है। क्योंकि वास्तव में मनुष्य उस उच्चतर 'सत्ता' का प्रतीक है जो इस जड़ जगत् में उतर आयी है ताकि यह सम्भव हो सके कि निम्नतर स्वयं को रूपान्तरित कर ले। उच्चतर का अवतरित होना और निम्नतर का आरोहण करना, यानी युक्त होना—यही है योग का सच्चा, शाब्दिक अर्थ, लेकिन यह आसान बिलकुल नहीं है, इसमें कितने ही स्तर होते हैं। मनुष्य एक जटिल प्राणी है, उसे अपने सभी स्तरों में, सभी अंगों में धीरे-धीरे उच्चतर को प्रविष्ट कराना होगा, प्रतिष्ठित कराना होगा। योग का सच्चा तथा पूर्ण लक्ष्य तभी पाया जा सकता है जब मनुष्य के अन्दर का सचेतन योग और प्रकृति में चल रहा अवचेतन योग अपनी सम्पूर्णता पा लें। और जब मानव के सम्पूर्ण जीवन में योग की शुरुआत हो गयी हो तभी सचमुच कहा जा सकता है कि "सारा जीवन ही योग है।"*

*CWSA खण्ड २३, पृ. ८*

# श्रीमाँ के वचन

**पहला चरण**

*"योग की प्रक्रिया है, बाहरी रूपों में तल्लीन चेतना की अहंकारमयी स्थिति से मानव अन्तरात्मा को मोड़ना..." मैं "बाहरी रूपों में तल्लीन चेतना की अहंकारमयी स्थिति..." का मतलब भली-भाँति नहीं समझ पाया।*

लोग बाहरी चीज़ों में व्यस्त रहते हैं। इसका अर्थ यह है कि चेतना गहरे सत्य और भागवत 'उपस्थिति' को पाने के लिए अन्दर की ओर मुड़ने की जगह बाहरी चीज़ों की ओर, यानी, जीवन की उन सब चीज़ों की ओर मुड़ी रहती है जिन्हें तुम देखते, जानते और करते हो। यह पहली गति है। तुम जो कुछ करते हो, तुम्हारे चारों ओर जो लोग हैं, तुम जिन चीज़ों का उपयोग करते हो, उन सबमें व्यस्त रहते हो; और फिर जीवन में: खाने-पीने में, सोने, बातचीत करने, थोड़ा काम करने, थोड़े-से मनोरञ्जन में भी व्यस्त रहते हो; और फिर शुरू से वही चक्र चल पड़ता है: सोना, खाना, आदि, आदि, और फिर से वह शुरू हो जाता है। और फिर इसने क्या कहा, उसने क्या किया, तुम्हें क्या करना चाहिये, तुम्हें कौन-सा पाठ सीखना चाहिये, तुम्हें कौन-सी तैयारी करनी चाहिये; और फिर यह भी कि तुम्हारी तबीयत कैसी है, तुम ठीक-ठाक तो हो, इत्यादि।

साधारणतः आदमी इन्हीं के बारे में सोचता है।

तो पहली गति है—और यह इतनी आसान नहीं है—इन सबको पीछे, पृष्ठभूमि में कर देना और केवल एक ही चीज़ को **एकमात्र** आवश्यक चीज़ के रूप में अन्दर और चेतना के सामने लाना: वह चीज़ है, अपने अस्तित्व और जीवन के सच्चे उद्देश्य को खोजना, यह सीखना कि हम क्या हैं, हम क्यों जीवित हैं, और इस सबके पीछे क्या है। यह पहला चरण है: अभिव्यक्ति की अपेक्षा कारण और लक्ष्य में अधिक रत रहना। यानी, पहली गति है, बाहरी और प्रत्यक्ष वस्तुओं के साथ पूर्ण तादात्म्य से अपनी चेतना को खींच लेना, और तुम जो खोजना चाहते हो, जिस 'सत्य' का अन्वेषण करना चाहते हो उस पर एक प्रकार की एकाग्रता रखना।

यह पहली गति है। —'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. ३८६-८७

## बाहरी रूपों के पीछे देखो

*श्रीअरविन्द यहाँ कहते हैं: "भागवत कार्य वह कार्य नहीं है जिसे अहंकारमय मन चाहता है या जिसका समर्थन करता है; क्योंकि वह सत्य पर पहुँचने के लिए भ्रान्ति का, आनन्द तक पहुँचने के लिए दुःख का, पूर्णता तक पहुँचने के लिए अपूर्णता का उपयोग करता है।" कैसे?*

... जो कुछ होता है और जैसे होता है हम उसके ही अभ्यस्त होते हैं; यह बस, आदत की बात है, क्योंकि पृथ्वी पर पहली साँस लेने के समय से हम चीज़ों को इस तरह देखने के अभ्यस्त हैं, और इसलिए हमें वे बिलकुल साधारण मालूम होती हैं, क्योंकि वे इसी तरह से होती हैं। लेकिन अगर हम इस आदत से बाहर निकल पायें, अगर हम चीज़ों को किसी और दृष्टि-बिन्दु से देख सकें तो हमें तुरन्त उस प्रकार के चमत्कारिक प्रभाव का अनुभव होगा, क्योंकि तब हम आदतन घटनाओं के तर्क को न देखेंगे।

हमें कार्य-कारण के एक विशेष तर्क की, सभी चीज़ों के परिणामों की, सभी गतिविधियों के सम्बन्ध के बारे में अमुक आदत है। हमारे लिए वह ऐसा तथ्य है जिसे हम, बिना सोचे-विचारे ही, स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि हम हमेशा उसी के अन्दर रहते आये हैं। लेकिन अगर हम सदा उसके अन्दर न रहे होते, तो हम उसे और ही ढंग से देखते। और हम यह परीक्षण कर सकते हैं अगर हम अभी जगत् जैसा है उसकी नियति से बाहर आ जायें—यह जगत् जो भौतिक, प्राणिक, मानसिक और थोड़े से छिपे हुए आध्यात्मिक प्रभाव या संयोजन का मेल है, जो भी घटित होता है वह इन सबका मिश्रण है—अगर हम उस सबसे बाहर आ जायें (हम ऐसा कर सकते हैं), अगर हम भौतिक, जड़ जगत् से, जैसा कि वह है, ऊपर उठ जायें, और किसी और चेतना में प्रवेश कर लें, तो हम चीज़ों को **एकदम** अलग तरह से देखेंगे।

और तब हम देखते हैं कि इन बाहरी रूपों के पीछे, जो हमें एकदम तर्कसंगत और बहुत स्वाभाविक, और लगभग अनिवार्य मालूम होते हैं, एक ऐसी क्रिया है जिसे अगर मनुष्य की साधारण चेतना से देखा जाये, तो वह **सारे समय** चमत्कारपूर्ण दिखायी देगी। शक्तियों, चेतनाओं, गतिविधियों,

प्रभावों का हस्तक्षेप होता है जो हमारी सामान्य चेतना के लिए अदृश्य या अगोचर होता है और वह **निरन्तर** परिस्थितियों की पूरी दिशा ही बदलता रहता है। —'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. ४१५-१६

## एक प्रतिनिधि-संगठन

*श्रीमाँ 'योग-समन्वय' में से "आत्म-निवेदन" अध्याय से पढ़ती हैं। "बहुधा उसे (साधक को) पता लगता है कि अध्यवसाय के साथ अपना निजी युद्ध जीत लेने पर भी, उसे बार-बार जीतना पड़ता है...।"*

मुझे नहीं मालूम कि तुम मेरी बात अच्छी तरह समझ रहे हो या नहीं, लेकिन व्यक्तिगत सिद्धि की कोई सीमा नहीं होती। तुम आन्तरिक रूप से, अपने अन्दर पूर्ण और अनन्त बन सकते हो। लेकिन बाह्य सिद्धि आवश्यक रूप से सीमित रहती है, और अगर तुम व्यापक क्रिया चाहते हो तो कम-से-कम भौतिक सत्ताओं की न्यूनतम संख्या तो ज़रूरी है ही।

एक बहुत पुरानी परम्परा के अनुसार कहा जाता है कि बारह काफ़ी हैं; लेकिन आधुनिक जीवन की जटिलताओं में यह सम्भव नहीं मालूम होता। एक प्रतिनिधि-संगठन होना चाहिये। जिसका मतलब है... तुम उसके बारे में कुछ नहीं जानते या तुम उसकी अच्छी तरह कल्पना नहीं करते, लेकिन तुममें से हर एक उन मुश्किलों में से एक का प्रतिनिधित्व करता है जिन्हें रूपान्तर के लिए जीतना ज़रूरी है। और यह बहुत मुश्किलें पैदा करता है! *(माताजी हँसती हैं)*, मैंने कहीं लिखा है... मैंने कहा है कि कठिनाई से भी बढ़ कर हर एक किसी असम्भवता का प्रतिनिधि है जिसका समाधान करना ही है। और इन सब असम्भवताओं की पूरी मण्डली दिव्य 'कर्म', दिव्य 'उपलब्धि' में रूपान्तरित हो सकती है। हर व्यक्ति एक ऐसी असम्भवता है जिसे सुलझाना है, और जब इन सारी असम्भवताओं का समाधान हो जाये तभी दिव्य 'कर्म' चरितार्थ होगा। लेकिन अब मैं ज़्यादा सदय हूँ। मैंने "असम्भवता" को हटा दिया है और उसकी जगह "कठिनाई" रख दिया है। शायद अब वे असम्भवताएँ नहीं रहीं।

लेकिन, शुरू से ही, अब और भी ज़्यादा, जब कि हमारा दल काफ़ी

बढ़ चुका है, हर बार जब कोई मुझसे कहने आता है : "मैं **अपने** योग के लिए आया हूँ" तो मैं कह देती हूँ : "नहीं, नहीं। तब मत आओ। और जगहों की अपेक्षा यहाँ यह बहुत ज़्यादा कठिन है।" और कारण वही है जो श्रीअरविन्द ने यहाँ लिखा है। अगर कोई मुझसे यह कहने आये : "मैं काम करने आया हूँ, मैं अपने-आपको उपयोगी बनाने आया हूँ" तो ठीक है। लेकिन अगर कोई आये और कहे : "बाहर मेरे आगे बहुत कठिनाइयाँ हैं, मैं इन कठिनाइयों को पार नहीं कर पाता, मैं यहाँ आना चाहता हूँ क्योंकि इससे मुझे सहायता मिलेगी", तो मैं कहती हूँ : "नहीं, नहीं, यहाँ यह **कहीं** अधिक कठिन होगा; तुम्हारी कठिनाइयाँ **बहुत अधिक** बढ़ जायेंगी।" इसका यही अर्थ होता है, क्योंकि तब अलग, इक्की-दुक्की कठिनाइयाँ नहीं रहतीं; वे सामूहिक कठिनाइयाँ होती हैं।

तो तुम्हारी अपनी निजी कठिनाई के अतिरिक्त तुम सभी रगड़-झगड़, सभी सम्पर्क, सभी प्रतिक्रियाएँ, वे सब चीज़ें पाते हो जो बाहर से आती हैं। कसौटी के रूप में। ठीक कमज़ोर बिन्दु पर, जिस चीज़ को हल करना सबसे कठिन है; वहीं पर तुम किसी से ऐसी बात सुनोगे जिसे तुम हर्गिज़ न सुनना चाहते थे, कोई तुम्हारी ओर ऐसा संकेत करेगा जो ठीक तुम्हें धक्का पहुँचाने वाला होगा; तुम अपने-आपको ऐसी परिस्थिति, ऐसी गतिधारा, ऐसे तथ्य, ऐसी चीज़ के सामने पाओगे, वह कुछ भी क्यों न हो, ठीक ऐसी चीज़ के सामने जो... "ओह, मैं कितना अधिक चाहता था कि यह न हो!" और ठीक वही चीज़ होगी। और अधिकाधिक होगी। क्योंकि तुम अपना योग केवल अपने लिए नहीं करते। तुम सबके लिए योग करते हो—बिना चाहे—यन्त्रवत् करते हो। तो जब लोग आकर मुझसे कहते हैं : "मैं यहाँ शान्ति, स्थिरता, आराम के लिए, अपना योग करने के लिए आया हूँ", तो मैं कहती हूँ : "नहीं, नहीं, नहीं! तुरन्त कहीं अन्यत्र चले जाओ, यहाँ की अपेक्षा किसी भी जगह तुम ज़्यादा शान्त रहोगे।"

अगर कोई आकर कहे : "लीजिये, मैं उपस्थित हूँ, मुझे लगता है कि मुझे अपने-आपको भागवत 'कर्म' के लिए अर्पित कर देना चाहिये, आप मुझे जो भी काम दें वही करने को तैयार हूँ", तो मैं कहती हूँ : "अच्छा यह ठीक है। अगर तुम्हारे अन्दर सद्भावना है, सहनशीलता है, और कुछ क्षमता है, तो यह ठीक है। लेकिन तुम्हारे आन्तरिक विकास के लिए

आवश्यक एकान्त पाने के लिए कहीं अन्यत्र जाना ज़्यादा अच्छा है, चाहे **कहीं भी** क्यों न हो, लेकिन यहाँ नहीं।" तो यह बात है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. ४४९, ४५१-५३

## अपने छोटे-से व्यक्तित्व को मत पोसो

*माँ, मैं यह नहीं समझ पाया : "हमारा वैयक्तिक प्रयास और अभीप्सा का भाव अहंकारमय मन से आता है जो ग़लत और अधूरे ढंग से भागवत शक्ति के कार्यों के साथ तादात्म्य साधने की कोशिश करता है।"*

... इसे बहुत परिचित शब्दों में कहा जा सकता है। व्यक्तिगत सत्ता, और उसमें भी विशेषकर मन को, यह मानने में सहज विकर्षण होता है कि उसकी छोटी-सी व्यक्तिगत शक्ति के अतिरिक्त कोई और शक्ति भी है जो काम करती है। एक प्रकार की सहज वृत्ति होती है जो तुम्हें पूरी तरह निश्चय करा देती है कि अभीप्सा के लिए प्रयास, प्रगति के लिए इच्छा यथार्थ रूप में तुम्हारी अपनी चीज़ें हैं, उन पर तुम्हारा अधिकार है, इसलिए, सारा श्रेय तुम्हें ही है।

कलाकार या साहित्यिक या वैज्ञानिक से लेकर, जो किसी चीज़ की रचना करता है, किसी चीज़ का अध्ययन करता है, और जिसे पूरा विश्वास होता है कि वह स्वयं इस चीज़ को कर रहा है, अभीप्सा करने वाले योगी तक को यह विश्वास होता है कि उसकी अभीप्सा का उत्साह, सिद्धि के लिए उसकी निजी आवश्यकता उसे आगे बढ़ाती हैं—अगर कोई इन लोगों से कह दे (मुझे इसका अनुभव हो चुका है), अगर कोई इनसे समय से पहले कह दे : "नहीं, स्वयं भगवान् तुम्हारे अन्दर अभीप्सा करते हैं, भागवत 'शक्ति' तुम्हारे अन्दर निर्माण करती है...", तो फिर वे कुछ भी नहीं करते, वे लम्बे पड़ जाते हैं, उन्हें फिर उसमें कोई दिलचस्पी नहीं रह जाती; वे कहते हैं : "अच्छा, तो अब मुझे कुछ भी नहीं करना, भगवान् को ही करने दो।" श्रीअरविन्द का मतलब यही है—मन इतना अहंकारमय और इतना घमण्डी है कि अगर तुम उससे वह तुष्टि ले लो जिसकी उसे खोज है तो फिर वह सहयोग नहीं देता; न प्राण ही सहयोग देता है। और

चूँकि तुम्हारा शरीर प्राण और मन का बहुत आज्ञाकारी होता है इसलिए वह भी अब सहयोग नहीं देता। तब तुम एक जड़ ढेले के सामने होते हो जो कहता है : "अच्छा, अगर मैं नहीं, तो ठीक है, कर लेने दो भगवान् को जो वे चाहें; बस, अब मैं और कुछ भी नहीं करने वाला।"

मैंने ऐसे लोग देखे हैं जिन्होंने सचमुच बहुत-सी प्रगति कर ली थी, जो उस क्षण के बहुत निकट थे जब व्यक्ति वस्तुओं के सत्य को पाने वाला होता है, और वे केवल इसी चीज़ के कारण अटक गये। क्योंकि कार्य का स्रोत होने की इस आवश्यकता की, प्रयास का श्रेय लेने की आवश्यकता की जड़ें इतनी गहरी होती हैं कि वे अन्तिम क़दम नहीं उठा सकते। कभी-कभी इसमें वर्षों लग जाते हैं। अगर उनसे कहा जाये : "नहीं, यह तुम नहीं हो, यह शक्ति जो तुम्हारे अन्दर है, यह संकल्प जो तुम्हारे अन्दर है, यह ज्ञान जो तुम्हारे अन्दर है, यह सब भगवान् है; यह वह नहीं है जिसे तुम अपना स्व कहते हो", तो इससे वे इतने दुःखी हो जाते हैं कि फिर वे और कुछ नहीं कर पाते। श्रीअरविन्द इस वाक्य में यही कहना चाहते हैं।

ऐसे लोग हैं जिनमें अपने अलग व्यक्तित्व का भाव बनाये रखने की इतनी चाह होती है कि अगर उन्हें यह मानने के लिए बाधित किया जाये कि जो कुछ ऊपर की ओर उठता है वह भगवान् की प्रेरणा से होता है या उन्हीं के द्वारा किया जाता है, तो वे अपने छोटे-से व्यक्तित्व के लिए त्रुटियों, दोषों, भूलों, भ्रान्तियों का सारा पुलिन्दा रख लेते हैं, और अपनी त्रुटियों को पोसते हैं, ताकि कुछ तो उनका अपना बना रहे, जो वस्तुतः उनका अपना हो, उनकी निजी सम्पत्ति हो : "हाँ, यह सब जो सुन्दर है, प्रकाशमान है, वह भगवान् है; सभी भयानक चीज़ें—मैं हूँ।" लेकिन अपनापन... एक बड़ा-सा अपनापन; उसे तुम्हें नहीं छूना चाहिये!

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. ३९६-९७

## सबसे अधिक निश्चित कड़ी

*यहाँ लिखा है : "हमारा एकमात्र लक्ष्य होना चाहिये स्वयं भगवान्, जिनके लिए हमारी गुप्त प्रकृति में कोई चीज़ हमेशा, जाने-अजाने, अभीप्सा करती ही रहती है।" मधुर माँ, यह कोई चीज़ क्या है जो अभीप्सा करती रहती है?*

यह सत्ता का एक भाग है जो सबके अन्दर सदा एक-सा नहीं होता, जो सहज भाव से चैत्य प्रभाव के प्रति खुला रहता है।

हमेशा एक भाग ऐसा रहता है जिसके बारे में हम सचेतन नहीं होते, जो वस्तुतः कभी-कभी परदे के पीछे पूरी तरह छिपा रहता है, सत्ता में कोई ऐसी चीज़ होती है जो चैत्य की ओर अभिमुख रहती है और उसके प्रभाव को ग्रहण करती रहती है। यही चैत्य चेतना और बाह्य चेतना के बीच मध्यस्थ होती है।

सभी के अन्दर एक ही चीज़ नहीं होती; हर एक के अन्दर अलग-अलग होती है। वह उसकी प्रकृति में या चरित्र में एक बिन्दु होता है जिसके द्वारा वह चैत्य को छू सकता है और जहाँ वह चैत्य प्रभाव पा सकता है। यह लोगों पर निर्भर करता है। यह हर एक के लिए भिन्न होता है। हर एक के अन्दर ऐसा बिन्दु होता है।

तुम्हें ऐसा अनुभव भी हो सकता है कि कुछ चीज़ें ऐसी हैं जो तुम्हें अचानक धकेलती हैं, तुम्हें अपने-आपसे ऊँचा उठा देती हैं, किसी अधिक बड़ी चीज़ के लिए एक तरह का दरवाज़ा खोल देती हैं। ऐसी बहुत-सी चीज़ें हो सकती हैं; यह हर एक की प्रकृति पर निर्भर करता है। सत्ता का कोई भाग किसी चीज़ के लिए उत्साह में आ जाता है; उत्साह की यह क्षमता ही वह चीज़ है। दो मुख्य चीज़ें हैं। उत्साह के लिए यह क्षमता जो मनुष्य को उसकी कम या अधिक जड़ता में से बाहर निकाल लाती है ताकि वह अपने-आपको अधिक या कम पूर्णता के साथ उस चीज़ में झोंक सके जो उसे जगाती है। उदाहरण के लिए, कलाकार अपनी कला के लिए, वैज्ञानिक अपने विज्ञान के लिए। और सामान्यतः, हर ऐसे व्यक्ति में जो निर्माण करता या सृजन करता है, एक-न-एक उद्घाटन होता है, किसी विशेष क्षमता का, किसी विशेष सम्भावना का उद्घाटन जो उसमें उत्साह पैदा करता है। जब यह सक्रिय हो तो सत्ता के अन्दर कोई चीज़ जाग जाती है, और की जाने वाली चीज़ में लगभग सारी सत्ता का सहयोग मिलता है।

यह बात है। और फिर कुछ ऐसे लोग होते हैं जिनमें कृतज्ञता की सहज क्षमता होती है, जिनमें प्रत्युत्तर देने की आतुरता होती है, जो किसी ऐसी चीज़ के प्रति, जिसे वे समस्त जीवन के पीछे, छोटे-से-छोटे तत्त्व के पीछे, जीवन की छोटी-से-छोटी घटना के पीछे छिपी अद्भुत वस्तु के

रूप में अनुभव करते हैं और उसे ऊष्मा, निष्ठा और आनन्द के साथ प्रत्युत्तर देते हैं। वे सभी चीज़ों के पीछे परम सौन्दर्य या अनन्त 'कृपा' का अनुभव करते हैं।

मैंने ऐसे लोग देखे हैं जिन्हें, हम कह सकते हैं, किसी चीज़ का कोई ज्ञान न था, जो शायद ही कुछ पढ़े-लिखे थे, जिनके मानस बिलकुल सामान्य प्रकार के थे, और जिनमें कृतज्ञता की, ऊष्मा की यह क्षमता थी जो अपने-आपको दे देती है, समझती है, और कृतज्ञ होती है।

हाँ तो, उनमें उनकी योग्यता के अनुसार, लगभग निरन्तर चैत्य सम्पर्क होता था—बहुत अधिक नहीं, कुछ-कुछ सचेतन सम्पर्क, यानी, वे अनुभव करते थे कि उन्हें ले जाया जा रहा है, सहायता दी जा रही है, उन्हें उनसे ऊपर उठाया जा रहा है।

ये दो चीज़ें लोगों को सबसे अधिक तैयार करती हैं। वे इन दोनों में से किसी एक या दूसरी को लेकर पैदा होते हैं; और अगर वे ज़रा कष्ट उठायें, तो यह चीज़ धीरे-धीरे विकसित होती है, बढ़ती है।

हम कहते हैं कि उत्साह की क्षमता एक ऐसी चीज़ है जो तुम्हें तुम्हारे दरिद्र, क्षुद्र, नीच अहंकार से ऊपर उठा देती है; और उदारतापूर्ण कृतज्ञता, कृतज्ञता की उदारता जो अपने-आपको धन्यवाद-ज्ञापन में छोटे-से अहंकार में से बाहर निकाल देती है। अपनी चैत्य सत्ता में भगवान् के साथ सम्पर्क पाने के लिए ये दो सबसे अधिक शक्तिशाली उत्तोलक हैं। यह चैत्य सत्ता के साथ जोड़ने वाली कड़ी का काम देती है—सबसे अधिक निश्चित कड़ी का।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. ४५९-६१

## सिर में पंख नहीं हुआ करते : हृदय में होते हैं

सिर में पंख नहीं हुआ करते : हृदय में होते हैं, यह... हाँ, यह अनिवार्य आवश्यकता है। और किसी चीज़ की गिनती नहीं है। यही सब कुछ है, केवल यही।

तो, आख़िर, तुम विघ्न-बाधाओं और कठिनाइयों के लिए ज़रा भी परवाह नहीं करते। वे तुम्हारा क्या बिगाड़ सकती हैं?... उनकी कोई गिनती नहीं है। कभी-कभी तुम समय पर भी हँसते हो। अगर उसमें लम्बा समय लगे, तो हर्ज़ ही क्या है? अधिक लम्बे समय तक तुम्हें अभीप्सा

का, आत्म-निवेदन का, आत्मदान का आनन्द मिलेगा।

क्योंकि यही एकमात्र सच्चा आनन्द है। और जब कोई अहंकारपूर्ण चीज़ हो, कोई माँग है जो समर्पण में घुली-मिली हो, जिसे व्यक्ति आवश्यकता कहता है, तो यह आनन्द मुरझा जाता है। अन्यथा आनन्द कभी लुप्त नहीं होता। यह पहली चीज़ है जिसे तुम प्राप्त करते हो, और यही अन्तिम है जिसे तुम चरितार्थ करते हो। और यह 'विजय' का चिह्न है।

जब तक तुम आनन्द में, सतत, शान्त, निश्चल, प्रकाशमय, अपरिवर्तनशील आनन्द में न रह सको, हाँ, तब तक इसका मतलब है कि अभी अपने-आपको शुद्ध करने के लिए काम करना, और कभी-कभी कठोर परिश्रम करना बाक़ी है। लेकिन चिह्न यही है।

वियोग के भाव के साथ ही कष्ट, दुःख, दुर्गति, अज्ञान और सभी अक्षमताएँ आयी हैं। केवल सम्पूर्ण आत्मदान में अपने-आपको भुला देने से ही और पूर्ण निवेदन के द्वारा ही दुःख ग़ायब हो सकता है और उसकी जगह एक ऐसा आनन्द ले सकता है जिसे कुछ भी छिपा न सके। और जब इस जगत् में यह आनन्द स्थापित हो जाये तभी जगत् का सच्चा रूपान्तर हो सकेगा और एक नया जीवन, नयी सृष्टि, नयी उपलब्धि प्राप्त हो सकेगी। पहले चेतना में आनन्द स्थापित होना चाहिये, उसके बाद भौतिक रूपान्तर होगा; पहले नहीं। सच्ची बात तो यह है कि दुनिया में 'विरोधी शक्ति' के साथ ही दुःख आया। और केवल आनन्द ही उसे हरा सकता है—और कुछ भी उसे निश्चित रूप से, सदा के लिए नहीं हरा सकता।

'आनन्द' ने ही सृजन किया है और 'आनन्द' ही सम्पन्न करेगा। ध्यान दो कि मैं उस चीज़ की बात नहीं कर रही जिसे मनुष्य आनन्द कहते हैं, जो उसका विद्रूप तक नहीं है। मेरा ख़याल है कि जो आनन्द सुख, विस्मृति और उदासीनता से आता है, वह लोगों को रास्ते से भटका देने के लिए एक पैशाचिक अन्वेषण है।

मैं एक ऐसे आनन्द की बात कर रही हूँ जो पूर्ण शान्ति, छायाहीन प्रकाश, सामञ्जस्य, पूर्ण सौन्दर्य, अप्रतिरोध्य शक्ति है, वह आनन्द जो अपने सारतत्त्व, अपने 'संकल्प' और अपनी 'उपलब्धि' में स्वयं भागवत 'उपस्थिति' है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. ४३७-३८

# अतिमानवता के पथ पर

(आश्रम के एक फ़्रेंच साधक सत्प्रेम द्वारा फ़्रेंच में लिखी किताब La Genèse du Surhomme—अतिमानव की उत्पत्ति—चर्चित पुस्तक है। श्रीअरविन्द-श्रीमाँ के योग को सुन्दर-सरल भाषा में कहानी के रूप में प्रस्तुत किया गया है इसमें। इसकी 'भूमिका' बहुचर्चित बन गयी है क्योंकि यह अपने-आपमें "सम्पूर्ण" है।

वर्ष था—१९७०। सत्प्रेम ने अपनी एक पुस्तक की भूमिका लिखनी आरम्भ की, शीर्षक था, "अतिमानवता के पथ पर।"

किताब के बारे में उन्होंने स्वयं कहा था, '... रूपान्तरण के पथ की मार्ग-प्रदर्शिनी होगी यह पुस्तक, एक बहुमूल्य कुञ्जी। यही हमारी सभी वर्तमान चुनौतियों का उत्तर होगी, यह अस्त-व्यस्त संसार, जो 'सच्चे जीवन' का अर्थ पूरी तरह से खो बैठा है, उसके लिए यह एक मूलभूत सन्देश प्रदान करेगी।'

जब सत्प्रेम ने इस पुस्तक की भूमिका श्रीमाँ को पढ़ कर सुनायी तो उन्होंने जो कहा उसका आशय था—

"यह भूमिका अद्‌भुत है मेरे बच्चे, अद्‌भुत! आज ठीक इसी की आवश्यकता है। इसे दूर-दूर तक फैलाने के लिए क्या करना चाहिये?... इसे... *(हर दिशा में संकेत)*।

... और यह **भूमिका** पूर्ण है, अपने-आपमें **सम्पूर्ण**। इसका अनुवाद अंग्रेज़ी, जर्मन, इतालवी... सब भाषाओं में होना चाहिये, और उसे हर दिशा में जाना चाहिये...

यह भूमिका सारे जगत् पर छा जाये।

और इसकी हज़ारों-हज़ारों प्रतियाँ छपें, सर्वत्र बाँटी जायें..."

इस साल ओरोवील की पचासवीं वर्षगाँठ (२८ फ़रवरी २०१८) पर इस भूमिका को फ़्रेंच, अंग्रेज़ी, तमिल तथा संस्कृत—चार भाषाओं में एक साथ छाप कर सुन्दर पुस्तकाकार-रूप दिया गया है।

'अग्निशिखा' के इस अंक में हम इस "भूमिका" का हिन्दी अनुवाद दे रहे हैं—सं.)

# भूमिका

*"अथवा, हमें मिलेगी तब, जब*
*अन्य सभी कुछ निष्फल होगा,*
*अपने ही अन्तर में गूहित*
*पूर्ण रूपान्तरण की कुञ्जी।"*

*—श्रीअरविन्द (सावित्री–पृ.२५६)*

रहस्य सरल-सहज है।

क्योंकि 'सत्य' सरल है। जगत् में यह सबसे सरल चीज़ है, इसीलिए हम इसे नहीं देखते। जगत् में 'एकमेव' सत्-तत्त्व है, दो नहीं, जैसा कि आधुनिक भौतिकशास्त्री और गणितज्ञों ने समझना शुरू किया है, और जिसे कि एक शिशु जानता है, जब वह सूर्यालोकित सागर-तट पर लहरों को देख कर मुस्कुराता है; जिस तट पर लहरों का वही फेनिल प्रवाह कालचक्र के आरम्भ से बहता चला आ रहा है; जो प्राचीन स्मृतियों के गर्भ से उठती जीवन के सुखद-दुःखद दिनों की लयबद्ध गतियों की याद दिलाता हुआ उन्हें एक कथासूत्र में पिरोता चला जाता है। यह इतना पुरातन लगता है मानों यह एक नित्य सतत उपस्थिति है जो अपनी विशालता में इतनी व्यापक है कि सामुद्रिक पक्षी की उड़ानों को भी अपने में समेटे हुए है। और, उस सरल-से, क्षण-भर को चमकते बिन्दु में, जो उफनती फेनिल लहर पर चमका था, सब कुछ—सारे युगों और सभी जीवात्माओं का कुल योग—समाहित है। किन्तु हमने उस बिन्दु को, उस मुस्कान को, उस संगीतमय क्षण को खो दिया है। अतः हमने उस 'एकत्व' को पुनः प्राप्त करने के लिए जोड़ बैठाने की कोशिश की है। १+१+१ ...अपने कम्प्यूटरों की तरह मानों सभी सम्भव दिशाओं से प्राप्त होने वाले समस्त ज्ञान को जोड़ने से हमें वह सही स्वर प्राप्त हो जायेगा, वह एक स्वर जो सारे गीतों को बनाता है और समस्त जगत् और उस विस्मृत शिशु के हृदय को मुग्ध करता है। हमने हर 'पॉकेट-बुक' के रूप में उस 'सरलता' को बनाने की कोशिश की है, लेकिन हमने अपने जीवन को सरल बनाने के इन चतुराई-भरे बटनों को जितना बढ़ा डाला उतना ही वह पक्षी हमसे दूर उड़ता चला गया, वह मुस्कान, वह चमकता फेनिल जल भी हमारे समीकरणों से प्रदूषित

हो गया है। हम पूर्ण निश्चय से अभी तक यह भी नहीं जानते कि हमारा शरीर वास्तव में हमारा है—उस सुन्दर 'यन्त्र' ने सब समाप्त कर डाला।

तथापि, वह एकमेव 'सद्वस्तु' ही एकमेव 'शक्ति' भी है। क्योंकि, जो एक बिन्दु में चमकता है, वही अन्य सभी बिन्दुओं में चमकता है। एक बार यह समझ में आ गया तो बाक़ी सब समझ में आ जायेगा; जगत् में एक ही 'शक्ति' है, दो नहीं। एक नन्हा बच्चा भी यह समझता है कि, वह राजा है, वह शक्तिशाली, अजेय है। परन्तु बच्चा बड़ा होता है, वह भूल जाता है। और, मनुष्य भी आगे बढ़े हैं, देश और सभ्यताएँ आगे बढ़ी हैं, प्रत्येक ने अपने तरीक़े से 'महान् रहस्य' को—उस सरल रहस्य को—युद्ध और विजय के द्वारा, ध्यान अथवा चमत्कार के द्वारा, सुन्दरता, धर्म अथवा विज्ञान के द्वारा खोजने का प्रयास किया है। यद्यपि, सच में हम नहीं जानते कि इनमें से कौन सबसे आगे है : ऍक्रोपोलिस का भवननिर्माता, चमत्कार करने वाला थीबन, अन्तरिक्षयात्री केप कैनेडी अथवा सिस्टॅर्शियन संन्यासी; कारण, एक ने जीवन को समझने के लिए जीवन को त्यागा, दूसरे ने इसे बिना समझे इसका आलिंगन किया, अन्य ने सौन्दर्य की एक छाप अंकित कर दी, तो और एक ने अनन्त चिरनील गगन में एक श्वेत रेखा खींच कर छोड़ दी। इस सूची में हमारा नाम केवल अन्तिम है, इतनी सी बात है। और, हम अब तक अपना चमत्कार नहीं ढूँढ़ सके हैं। वह बिन्दु, आज भी जगत् के विस्तृत तट पर विद्यमान है; जो भी उसे पकड़ेगा उसके लिए वह अब भी चमकता है, ठीक वैसे ही जैसे हमारे मानव बनने से पूर्व वह तारों की छाँव में चमकता था।

तथापि कुछ अन्य लोगों ने उस रहस्य को छुआ है। शायद यूनानी जानते थे, मिस्र के लोग जानते थे और निश्चित रूप से वैदिक काल के भारतीय ऋषि उसे जानते थे। किन्तु रहस्य किसी सुन्दर वृक्ष पर खिलने वाले फूलों की तरह होते हैं; उनकी अपनी खिलने की ऋतु होती है, बाहर से दिखायी न पड़ने वाली, अन्दर ही बढ़ने की प्रक्रिया होती है और फिर अचानक फूल खिल उठते हैं। हर चीज़ का एक "समय" होता है। हमसे बहुत ऊपर, आकाश में नक्षत्रों के योग का बनना, जलकागा पक्षी का फेन से भरी चट्टान तक रास्ता बनाना, और फेन के बनने का भी एक समय होता है—लहर का ऊपर उठना और उस पर क्षण-भर के लिए फेन का

बनना; हरेक चीज़ की गति में एक ही प्रक्रिया होती है। इसी प्रकार मनुष्यों की भी गति होती है। यह एक रहस्य है कि ज्ञान और शक्ति का अपना एक रचनात्मक समय होता है, एक छोटी-सी कोषिका जो अन्य कोषिकाओं की अपेक्षा अधिक विकसित हो जाये, इस ज्ञान को मूर्त रूप नहीं दे सकती, अर्थात् वह जगत् को तब तक नहीं बदल सकती, विशाल वृक्ष पर फूलों के खिलने की ऋतु को तब तक जल्दी नहीं ला सकती, जब तक कि सारा विकसनशील क्षेत्र तैयार न हो जाये।

किन्तु अब, समय आ गया है।

आ गया है वह समय! यह अब सारी धरती पर प्रस्फुटित हो रहा है, चाहे वह अनदेखा पुष्प अभी एक पीप-भरे फोड़े जैसा ही दीख रहा हो: यथा, कलकत्ते में गाँधी की मूर्ति को विद्यार्थियों द्वारा तोड़ा जाना, प्राचीन देव-आस्थाओं का टूटना; बुद्धि और तत्त्वमीमांसा से पोषित मन विघटन के लिए पुकार रहे हैं और अपनी ही क़ैद को तोड़ने के लिए विचित्र आदिम एवं बर्बर जाति को बुला रहे हैं, ठीक उसी तरह जैसे प्राचीन रोमनों ने किया था; कुछ अन्य लोग रासायनिक स्वर्गों को आमन्त्रित कर रहे हैं—आज की अवस्था से कोई भी दूसरी अवस्था बेहतर है! और, धरती माँ अपनी इन असंख्य टूट-फूट और विदीर्ण करने वाली चोटों की पीड़ा से, अपने शरीर की असंख्य कोषिकाओं के रूपान्तरण की पीड़ा से हाँफ़ रही है, कराह रही है। हमारे युग की अशुभ-अमंगल कहलाने वाली परिस्थितियाँ छद्मरूप में एक नवजन्म है, जिसे हम सँभालना नहीं जानते। हमलोग नूतन क्रमविकास-प्रक्रिया के संकटकाल का ठीक उसी तरह सामना कर रहे हैं जैसे महावानर-जाति ने प्रथम मानवजाति में उत्क्रमण करते समय किया होगा।

किन्तु, क्योंकि पार्थिव शरीर एक है अतः उसका निदान भी एक है, वैसे ही जैसे 'सत्य' एक है। और, एक रूपान्तरित बिन्दु अन्य सभी बिन्दुओं को रूपान्तरित करेगा। वह बिन्दु हमारे नियम-क़ानूनों के सुधार में, हमारे शासनतन्त्र व पद्धतियों में अथवा विज्ञानों में, हमारे धर्मों में, विचारधाराओं अथवा नाना "वादों" में नहीं मिलेगा—ये सब पुरानी मशीनरी के हिस्से हैं; इसका एक भी पेंच कसने, जोड़ने अथवा कहीं सुधारने की ज़रूरत नहीं है: हम 'अतिवाद' में घुट रहे हैं। इसके अलावा उस बिन्दु का हमारी बुद्धि से कुछ लेना-देना नहीं—जिसने (बुद्धि ने) इस मशीन को शुरू में सफल बनाया

था—न ही 'मनुष्य' को बेहतर बनाने में है, जो केवल उसकी कमियों और अतीत की महानताओं को ही भव्यतर बनाना होगा। श्रीअरविन्द ने कहा है—"मानव की अपूर्णता प्रकृति का अन्तिम वचन नहीं है, किन्तु, उसकी परिपूर्णता भी 'आत्मा' का अन्तिम शिखर नहीं है" (CWSA-२२: ७९३)। वास्तव में यह बिन्दु हमारी बुद्धि की पकड़ से परे भविष्य में विद्यमान है, लेकिन सत्ता की गहराई में यह उसी तरह विकसित होता जा रहा है जैसे पलाश के सारे पत्ते झड़ जाने पर उसके फूल खिल उठते हैं।

लेकिन, भविष्य के द्वार की भी एक चाबी होती है, बशर्ते कि हम **असली** चीज़ की गहराई में जायें। किन्तु जिसे हम अपने मानवीय मापदण्डों के अनुसार सुन्दर, उचित और श्रेय मानते हैं उसके अलावा वह गहराई और कहाँ हो सकती है? किसी एक दिन प्रथम सरीसृप-प्राणी ने जल से निकल कर उड़ान भरने की लालसा की, प्रथम नरवानर ने जंगल से बाहर निकल कर दुनिया पर आश्चर्यभरी नयी दृष्टि डाली: दोनों को एक-सी ही अदम्य, दुर्निवार लालसा एक अन्य अवस्था के लिए सोचने को आकुल कर रही थी। और, सम्भवतः रूपान्तरण की सारी शक्ति उस एक सरल दृष्टिपात में पहले से ही निहित थी जो किसी **अन्य रूप के प्रति** उठी, मानों उस दृष्टि में, उस आकुलता में, उस अज्ञात आतुर पुकार के केन्द्रबिन्दु में भविष्यत् के महत् प्रवाह के द्वार को खोलने की शक्ति निहित थी।

वास्तव में, उस केन्द्रबिन्दु में सब निहित है, वह सर्वशक्तिमान् है; वह अगण्यरूप से अद्वितीय सौर 'आत्मतत्त्व' का स्फुलिंग है जो प्रत्येक व्यक्ति और हरेक वस्तु के हृदय में चमकता है, जो देश के हर कण और काल के हर क्षण में चमकता है, फेन के हर क़तरे में चमकता है, जो पल-भर की झलक में दिखा था, वह निरन्तर अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है।

भविष्य उनका होता है जो स्वयं को भविष्य के लिए निःसंकोच, पूर्णतया दे देते हैं।

और, हम यह स्वीकार करते हैं कि एक ऐसा भविष्य है जो मन के बनाये सारे इलेक्ट्रॉनिक सुख-स्वर्गों से कहीं ज़्यादा सुन्दर और भव्य है: मनुष्य अन्तिम चरण नहीं है, जैसे आर्किओप्टेरिक्स (एक विशाल डायनॉसॉर) सरीसृपजाति के प्राणी का सबसे उत्कृष्ट रूप होने पर भी अन्तिम चरण नहीं था—कैसे कोई भी चीज़ क्रमविकास की लहर की

अन्तिम पराकाष्ठा हो सकती है? यह हम स्वयं में स्पष्ट रूप से देखते हैं: हमें लगता है कि हम एक से बढ़ कर एक यन्त्रों का आविष्कार करते जा रहे हैं, मानव की सीमाओं का निरन्तर विस्तार करते जा रहे हैं, बृहस्पति और शुक्र ग्रहों की ओर बढ़ रहे हैं। किन्तु यह केवल आभास है, जो अधिकाधिक भ्रमात्मक और उत्पीड़क है, हम किसी चीज़ का विस्तार नहीं कर रहे हैं: हम केवल ब्रह्माण्ड के दूसरे छोर पर एक दयनीय तुच्छ प्राणी को भेजते हैं जो स्वयं अपने जैसों को सँभालना तक नहीं जानता, अथवा, उसे पता भी नहीं कि उसकी अपनी गुहा में ड्रैगन बसता है या कुनमुनाता हुआ कोई बच्चा। हम प्रगति करते ही नहीं, हम मन के एक विशाल गुब्बारे को असाधारण रूप से फुलाते चले जाते हैं जो चाहे जब हमारे मुँह पर ही फट सकता है। हमने मनुष्य को बेहतर नहीं बनाया, हमने उसे केवल विशाल रूप दे दिया है। और, इससे भिन्न कुछ हो भी नहीं सकता था। ग़लती हमारे कुछ गुणों के अभाव या बुद्धि की क्षमताओं में नहीं है, कारण, इन गुणों या क्षमताओं को चरम सीमा तक ले जाने पर भी इनसे एक अतिसन्त या अतियन्त्र (सुपरमशीन)—विशाल दैत्य ही पैदा हो पाते। अपनी माँद में बैठा एक सन्त प्रकृति का सरीसृप जन्तु क्रमविकास का, किसी सन्त संन्यासी की अपेक्षा, अधिक उच्च शिखर नहीं बन सकता। बल्कि, हम ये सब बातें भूल जायें। सच्चाई यह है कि किसी मानव अथवा किसी भी चीज़ का चरमोत्कर्ष उस व्यक्ति या उस वस्तु में उसी की एक उच्चतर श्रेणी की पूर्णता भर देने में नहीं है; वह है उसका "किसी अन्य रूप में" ऊपर उठना जो उसके पहले रूप में नहीं था और जैसा बनने की वह अभीप्सा करता था। यही है क्रमविकास का विधान। मनुष्य अन्तिम चरण नहीं है; मनुष्य एक "संक्रमणशील प्राणी" है, यह बात श्रीअरविन्द ने बहुत पहले ही कह दी थी। वह अतिमानवता की ओर उसी तरह अग्रसर हो रहा है जैसे आम के बीज में उसकी उच्चतम शाखा की सबसे छोटी टहनी सन्निहित होती है। अतएव हमारा एकमात्र सच्चा कार्य, हमारी एकमात्र समस्या, एकमात्र प्रश्न, जिसका उत्तर ढूँढ़ने का प्रयास युग-युग से चल रहा है, और जो समस्या हमारे पृथ्वीरूपी महापोत के अंग-अंग को चीर कर अलग करे डाल रही है, वह है कि यह संक्रमण हम कैसे करें?

नीत्शे ने भी यह कहा था। किन्तु उसका अतिमानव वर्तमान मानव-

रूप का ही बृहदीकरण था; हमने देखा है कि जब उसने यूरोप को कुचला तो क्या कर दिया। वह क्रमविकासात्मक प्रगति नहीं थी, वह केवल मानव अहंकार का सुनहरे-भूरे पशु की बर्बरता में लौट जाना था। हमें "सुपर मैन" (शक्तिमान् मानव) नहीं चाहिये, बल्कि कुछ और चाहिये जो अब मनुष्य के आन्तर मन में मन्द-मन्द फुसफुसाने लगा है तथा जो वर्तमान मानव से उतना ही भिन्न है जितनी संगीतकार बाक़ की संगीत-रचनाएँ आदिमानव की घुरघुराहटों से भिन्न हैं। और, सत्य यह है कि बाक़ की संगीत-रचनाएँ भी बहुत फीकी लगने लगती हैं जब हमारी अन्तः-श्रवण-शक्ति भविष्य की स्वरसंगतियों को सुनने के लिए उन्मीलित होने लगती है।

इस उन्मीलन की, इस नयी प्रगति की हम उस प्रकाश में परीक्षा करेंगे जिसे हमने श्रीअरविन्द तथा उनके कार्य को आगे बढ़ाने वाली श्रीमाँ से प्राप्त किया है, जो इस रूपान्तरण के कार्य की जीवन्त क्रिया-प्रणाली-स्वरूप हैं, और जिसके फलस्वरूप हम स्वयं अपने क्रमविकास के कार्य को—प्रयोगात्मक रूपान्तरण के कार्य को—रीतिबद्ध तरीक़े से सञ्चालित कर सकें, इसकी सही पकड़ हमें मिल सके। ठीक उसी प्रकार जैसे कुछ लोग "टैस्टट्यूब"-गर्भ तैयार करने की कोशिश करते हैं, हालाँकि उसमें उन्हें अपने दैत्यरूप की ही प्रतिध्वनि सुनायी पड़ सकती है।

जीवन का रहस्य जीवन में नहीं है, न ही मानव का रहस्य मानव में, उसी तरह जैसे श्रीअरविन्द ने कहा था—"कमल का रहस्य उस कीचड़ में है जिसमें से वह विकसित होता है।" तथापि उस कीचड़ और सूर्य की एक किरण ने मिल कर एक उच्चतर कोटि के सामञ्जस्य की सृष्टि की है। हमें परिवर्तन के इस स्थान को, रूपान्तरण के इस बिन्दु को खोजना होगा। शायद तभी हम यह पुनः जान पायेंगे कि, सागरतट पर वह शान्त बालक एकाग्र होकर तूफ़ानी फेन के एक अंश में किस चीज़ को, ध्यान से देख रहा था, क्या है वह परम संगीत जो लोकों को चक्राकार गति में घुमा रहा है, और क्या है वह 'अद्‌भुत चमत्कार' जो अपने प्रकट होने के काल की प्रतीक्षा कर रहा है।

और, जो मानवीय क्षमता के लिए असम्भव प्रतीत हो रहा था वह बाल-क्रीडा बन जायेगा।

अनु. अर्चना माहेश्वरी

**'पुरोधा' :**

# दैनन्दिनी

**जून**

१. आन्तरिक विश्राम को विकसित करो, उसे ऐसा विश्राम बनना चाहिये जो महान् से महान् गतिविधियों के बीच भी हमेशा उपस्थित रहे और इतना स्थिर हो कि किसी भी चीज़ में उसे डिगाने की शक्ति न हो —और तुम परम अभिव्यक्ति के पूर्ण यन्त्र बन जाओगे।

२. नम्रता तथा निष्कपटता उत्तम रक्षा-कवच हैं। इनके बिना हर पग एक ख़तरा है; इनके साथ विजय सुनिश्चित है।

३. हमें विरोधी शक्तियों को अपनी शरारत करने का कभी कोई अवसर नहीं देना चाहिये—वे छोटी-से-छोटी निश्चेतना का भी लाभ उठाती हैं।

४. खुलना है ग्रहण करने की इच्छा करना, प्रगति के लिए शक्ति तथा प्रभाव को उपयोग में लाना, परम चेतना के साथ सम्पर्क में रहने की सतत अभीप्सा रखना; यह श्रद्धा रखना कि शक्ति तथा चेतना हमेशा तुम्हारे साथ, तुम्हारे चारों ओर, तुम्हारे अन्दर हैं और यह कि तुम्हें बस इतना ही करना है कि उन्हें ग्रहण करते समय कोई चीज़ तुम्हारे रास्ते में बाधा न डाले।

५. जिन्होंने योग करने का निश्चय कर लिया है उनके लिए जन्मपत्रियाँ कोई मूल्य नहीं रखतीं क्योंकि जो प्रभाव योग के द्वारा कार्य करता है वह ग्रहों के प्रभाव से कहीं अधिक शक्तिशाली होता है।

६. केवल प्रेम ही समझ सकता है और भागवत कार्य के रहस्यों तक पहुँच सकता है। मन, विशेष रूप से भौतिक मन, उचित तरीक़े से देखने में अक्षम होता है और फिर भी वह हमेशा मूल्यांकन करना चाहता है... मन में केवल एक सच्ची, निष्कपट नम्रता ही, जो चैत्य को सत्ता पर शासन करने देती है, मनुष्यों को अज्ञान तथा अन्धकार से बचा सकती है।

७. लोगों की प्रतिक्रियाओं के बारे में चिन्तित न होओ चाहे वे कितनी भी अप्रिय क्यों न हों—प्राण सर्वत्र और सबमें, अशुद्धताओं से भरा होता है और भौतिक निश्चेतना से भरा हुआ। इन दो अपूर्णताओं को

ठीक करना होगा, चाहे जितना समय क्यों न लगे, हमें बस इसके लिए धैर्यपूर्वक तथा साहस के साथ कार्य करते रहना है।

८. इस बात के प्रति हमेशा सचेत रहो कि तुम हमेशा स्थिर तथा शान्त बने रहो और अपनी सत्ता में एक सर्वांगीण समता को अधिकाधिक पूर्ण रूप से स्वयं को प्रतिष्ठित करने दो। अपने मन को बहुत अधिक सक्रिय या विक्षोभ में न रहने दो, चीज़ों के सतही दृष्टिकोण से निष्कर्षों पर न कूद पड़ो, हमेशा समय लो, एकाग्र होओ और अचञ्चलता में ही निश्चय करो।

९. हमें अपने मन में हमेशा उस महान् आदर्श तथा कार्य को बनाये रखना चाहिये जिसे प्राप्त करना है ताकि हम छोटे-छोटे ब्योरों को बहुत महत्त्व न दें, तुच्छ चीज़ें हमारा ध्यान आकर्षित न करें, वे भले आकाश में उन छोटे-मोटे बादलों की तरह आया-जाया करें जो सुहावने मौसम पर कोई प्रभाव नहीं डालते।

१०. दूसरों की मूढ़ता पर ध्यान न दो, अपनी मूढ़ता देखो।

११. निश्चय ही हमें सदा शान्ति तथा सामञ्जस्य की चाह करनी चाहिये और उसके लिए जितना अधिक सम्भव हो कार्य करना चाहिये—लेकिन उसके लिए क्रिया का उत्तम क्षेत्र हमेशा अपने अन्दर होता है।

१२. केवल तभी जब हम परेशान नहीं होते हम हमेशा उचित वस्तु उचित समय पर तथा उचित तरीक़े से कर सकते हैं।

१३. भागवत कृपा क्रिया करने के लिए हमेशा तैयार रहती है, लेकिन तुम्हें उसे कार्य करने देना चाहिये और उसकी क्रिया का प्रतिरोध नहीं करना चाहिये। एक आवश्यक शर्त है श्रद्धा। जब तुम्हें आक्रमण का अनुभव हो तो श्रीअरविन्द को तथा मुझे सहायता के लिए पुकारो। अगर तुम्हारी पुकार सच्ची है (यानी, अगर तुम सच्चे रूप में स्वस्थ होना चाहते हो) तो तुम्हारी पुकार को उत्तर मिलेगा और भागवत कृपा तुम्हें स्वस्थ बना देगी।

१४. मैं चाहती हूँ कि शान्ति तुम्हारे मन में आये और साथ ही अचञ्चल, धैर्यपूर्ण प्रज्ञा भी जो व्यक्ति को जल्दबाज़ी-भरे निर्णयों तथा मूल्यांकनों पर कूद पड़ने से रोकती है।

१५. मनुष्यों का केन्द्र चैत्य है जो सर्वव्यापी भगवान् का आवास है।

एकीकरण का अर्थ है सत्ता के सभी भागों (मानसिक, प्राणिक तथा भौतिक) का इस केन्द्र के चारों ओर संगठन तथा समन्वय ताकि सत्ता की सभी गतियाँ भागवत परम उपस्थिति की उचित अभिव्यक्ति हो सकें।

ईर्ष्या मन की संकीर्णता और हृदय की दुर्बलता के कारण आती है। यह बड़े दुःख की बात है कि कितने ही इसके शिकार होते हैं!

१६. अगर मन सभी परिस्थितियों और घटनाओं में अचञ्चल रहे तो धैर्य अधिक आसानी से विकसित होगा।

एक दिन में तुम अपनी प्रकृति पर विजय नहीं पा सकते, लेकिन धैर्य तथा आग्रही इच्छा द्वारा विजय निश्चित रूप से आयेगी।

१७. सहायता के लिए माँग करना और भरोसा न रखना बेवकूफ़ी है; इसके विपरीत, विश्वास हो तो सब कुछ कितना आसान हो जाता है। वस्तुतः मुझे विश्वास है कि जब अचेतना पर विजय पा ली जायेगी तब किन्हीं भी शर्तों की आवश्यकता नहीं रहेगी और तब भागवत कृपा स्वतः ही प्रत्येक निश्चय लेगी।

१८. जब तुम पूरी तरह से अचञ्चल और भयहीन होते हो तो कोई चिन्ताजनक चीज़ नहीं हो सकती।

भय हमेशा बहुत बुरा सलाहकार होता है।

१९. महान् अज्ञान के द्वारा ही मनुष्य अन्धकार तथा विनाश की शक्तियों के सुझावों को उत्तर देता है। भागवत अनन्त अनुकम्पा के प्रति कृतज्ञता के सच्चे भाव द्वारा मनुष्य ऐसे ख़तरों से बच जायेगा।

२०. हाँ, हमें अपनी चेतना का आधार उच्चतम सत्ता पर रखना चाहिये और जो कुछ हम करें वहीं से करना चाहिये; निम्न, अन्धी, स्वार्थपूर्ण गतिविधियों तथा प्रतिक्रियाओं को अपना काम बिगाड़ने नहीं देना चाहिये।

२१. कठिनाइयाँ हमेशा किसी प्रतिरोध के कारण आती हैं, सत्ता का कोई भाग या बहुत-से भाग उन पर डाली गयी शक्ति, चेतना तथा प्रकाश को ग्रहण करने से इन्कार करते हैं और भागवत प्रभाव के विरुद्ध विद्रोह करते हैं। यह विरल है कि कोई इन कठिनाइयों में से किसी-न-किसी कठिनाई का सामना किये बिना भागवत परम इच्छा

के प्रति पूरी तरह से समर्पित हो जाये। लेकिन अपनी अभीप्सा को सतत रूप से बनाये रखना और स्वयं को एक पूर्ण निष्कपटता के साथ देखना—ये सभी बाधाओं से पार पाने के निश्चिततम उपाय हैं।

२२. भगवान् की सहायता के बिना किसी भी व्यक्ति के लिए साधना करना सम्भव न होता। लेकिन सहायता हमेशा उपस्थित रहती है।

२३. विजय सुनिश्चित है और इस निश्चिति के साथ हम चाहे जितने ग़लत सुझावों और विरोधी प्रहारों का धैर्यपूर्वक सामना कर सकते हैं।

२४. अचञ्चल रहो। हमें किसी भी चीज़ से परेशान हुए बिना केवल धीरज के साथ कार्य करते रहना और अपरिहार्य परम विजय पर अडिग श्रद्धा बनाये रखनी चाहिये।

अग्नि को स्थिर रूप से प्रज्वलित रखो और निश्चित परिणाम के लिए अचञ्चलता के साथ प्रतीक्षा करो।

२५. गहरी शान्ति में सच्ची अग्नि हमेशा जलती रहती है; यह सर्व-विजयी इच्छा की अग्नि है। इसे अपने अन्दर गहरी समचित्तता में विकसित होने दो।

२६. सचमुच शान्ति की बहुत अधिक आवश्यकता है—शान्ति के बिना सरल-से-सरल चीज़ भी एकदम से बात का बतंगड़ बना देती है। ऐसा हो कि अधिकाधिक सतत तथा सर्वांगीण रूप से शान्ति तुम्हारे अन्दर अभिव्यक्त हो।

२७. निश्चित रूप से सारी परेशानियाँ कहीं किसी प्रतिरोध से, किसी ऐसी चीज़ से आती हैं जो रूपान्तर के कार्य का विरोध करती है।

२८. जब तुम लोगों से बोलो तो सावधान होकर हमेशा अपने चारों ओर जीवन्त चरम उपस्थिति तथा सुरक्षा को बनाये रखो और कम-से-कम बोलो।

२९. प्राणिक प्रतिक्रियाएँ हमेशा ख़तरनाक होती हैं।

भगवान् के प्रति प्राण का पूर्ण, निरपेक्ष उत्सर्ग ही एकमात्र समाधान है।

३०. हर क्षण अपना अच्छे-से-अच्छा करना और परिणाम भागवत निर्णय पर छोड़ देना—यही है शान्ति, सुख, बल, प्रगति तथा अन्तिम पूर्णता की ओर ले जाने वाला निश्चिततम मार्ग।

# श्रीअरविन्द के पूर्णयोग की साधना

(गतांक से आगे)

श्रीअरविन्द का पूर्णयोग इतना विशाल और व्यापक होते हुए भी इसमें संन्यासवाद इत्यादि के कठिन बाह्य नियमों को तथा कठोर शारीरिक तपस्याओं की प्रणालियों को स्थान नहीं दिया गया है। श्रीअरविन्द का कहना है कि प्रत्येक मनुष्य के अन्दर निष्पाप आत्मा सतत वर्तमान है—उसका विकास आत्मा के अमोघ परिचालन से ही सबसे अच्छी तरह से हो सकता है, न कि किन्हीं बाह्य नियमों के दबाव से। बाह्य नियम चाहे जितना भी उदार क्यों न हो वह आत्मा के लिए एक बन्धन-सा ही हो जाता है। साधक के स्वेच्छा से, पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ, पूर्ण आनन्द के साथ अन्तर्यामी परमात्मा को आत्म-समर्पण करने से वे अपनी *'सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि'* इस प्रतिश्रुति के अनुसार उसका उद्धार करेंगे। मानसिक नियमों के अनुसरण से अपनी क्षुद्र अहमात्मक शक्ति के द्वारा मनुष्य जो दीर्घकाल में नहीं कर सकता, उसको, उसे वे सहज ही प्राप्त करा देते हैं। इसमें आवश्यकता है सिर्फ अकपट आत्मदान की, स्वयं को निःसंकोच भाव से न्योछावर कर देने की। उनकी मान्यता है कि प्रत्येक मनुष्य का धर्म, उसका स्वभाव, उसका साधन दूसरों से पृथक् होता है। उसकी आत्मा का विकास उसकी प्रकृति के अनुसार ही होता है, इसलिए किसी एक नियम में सबको बाँध देना मानों उनके स्वाभाविक विकास के मार्ग में बाधा डालना है। अतः हमारे लिए आज्ञा हुई है कि हम सबसे पहले आत्म-समर्पण का संकल्प करें—सम्पूर्ण भाव से अपने-आपको भगवान् के हाथों में सौंप दें। यदि हमारे समर्पण में सच्चाई की कुछ भी मात्रा रही तो समय पर स्वतः ही यह प्रेरणा आयेगी कि हम अगला क़दम किधर बढ़ायें—क्या करें, कैसे करें।

बहुधा यह कहा जाता है कि जो अधिकारी नहीं है, वह इस पथ पर पग न धरे, इस आग में न कूदे। परन्तु यह कैसे जाना जा सकता है कि इस योग का अधिकारी कौन है? श्रीअरविन्द अपनी एक कविता में पूछते हैं—

"कौन चलेगा मेरे संग; कौन चढ़ेगा मेरे समान? पार करेगा नदी-

नाले, खूँदेगा हिम के मैदान?... कौन बिकेगा ख़तरे के हाथ... कौन चलेगा मेरे संग?"

आज से कई वर्ष पूर्व एक साधक के प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा था, "प्रत्येक मनुष्य कोई-न-कोई योग कर सकता है पर पूर्णयोग की बात कुछ और है। इसका लक्ष्य अपनी समग्र प्रकृति को, यहाँ तक कि शरीर तक को रूपान्तरित करना है। यह बड़ा कठिन कार्य है। हिमाचल की इस चरम चोटी पर चढ़ना सबका काम नहीं है। इसलिए मैं तब तक योग करने के लिए किसी को नहीं कहता जब तक उसकी प्यास इतनी प्रबल न हो जाये कि वह इस ध्येय की प्राप्ति के लिए अपना सर्वस्व होम करने को तैयार न हो जाये। अर्थात्, मैं उसी को योग की दीक्षा दे सकता हूँ जिसे इस योग के सिवा कुछ भी करणीय नहीं मालूम हो। तुम्हारे अन्दर ऐसी तृष्णा तो अभी नहीं जगी है।"

जिसके अन्दर यह तृष्णा जगी है, यह पुकार उठी है वही हो सकता है इस पथ का पथिक, इस योग का अधिकारी। यदि हमारे पास विद्या-बुद्धि, शास्त्र-ज्ञान, पुण्यबल और पाण्डित्य सब कुछ है पर भगवान् के लिए ललक नहीं है, उनके लिए अन्तर में पुकार नहीं है तो हम श्रीअरविन्द के योग के अधिकारी नहीं कहे जा सकते, अन्त तक इस अग्नि-पथ पर टिके रहने का दावा नहीं कर सकते। यदि पुकार है पर और कुछ नहीं है, हम दीन-दुर्बल, मूर्ख हैं और हज़ारों दोषों से भरे हैं फिर भी कोई बात नहीं, समय पर सब कुछ पायेंगे, सब छिद्र भर जायेंगे। कल हम क्या थे इसकी परवाह नहीं है, आज क्या करना चाहते हैं, कल क्या होना चाहते हैं सब कुछ इसी पर निर्भर करता है।

जिसके हृदय में यौगिक शक्ति प्राप्त कर संसार में कुछ बनने की, कुछ कर दिखाने की आकांक्षाएँ हिलोरें मारा करती हैं, आशा की गगनचुम्बी तरंगें उठा करती हैं उसे इस हुताशन में नहीं कूदना चाहिये। माताजी के शब्दों में—यह आग है जो भस्म कर देती है। जिसकी माया दुनिया को छलती है उसे कोई छल नहीं सकता।

पूर्णयोग की साधना का प्रारम्भ होता है अभीप्सा और आत्मोद्घाटन से। आत्मोद्घाटन का अर्थ है, आधार के विभिन्न स्तरों को भागवत शक्ति और ज्योति की ओर खोलना, जिससे वह शक्ति हमारे अन्दर अपना कार्य

कर सके। हमें अपने अन्दर लगन की ऐसी धूनी जलानी होगी जो खाद जला कर सोना चमका दे। अभीप्सा वही शुद्ध कहला सकती है जिसमें किसी प्रकार की आशा-आकांक्षा की बू न हो; अभीप्सा और आकांक्षा में अन्तर है। आकांक्षा का सम्पर्क है प्राणों से, पर अभीप्सा का सम्बन्ध है सीधे अन्तरात्मा से। आकांक्षा में माँग रहती है, मनुष्य उच्च आशा-आकांक्षा के वशीभूत होकर भगवान् पर अपनी इच्छा लादना चाहता है। अभीष्ट वस्तु के न मिलने पर पछाड़ खाकर रोता है, चिल्लाता है, यहाँ तक कि साधना छोड़ कर बैठ जाता है। पर अभीप्सा वही सच्ची कही जा सकती है जिसमें, फूल जैसे प्रकाश की ओर, तृषित भूमि जैसे वर्षा की ओर ताकती रहती है, वैसे ही ताकते रहने की जीवित इच्छा हो। सर्वस्व देकर, बदले में कुछ भी न मिलने पर, बिना मन को मैला किये, वह हमको हाथ में प्याला लेकर खड़े रहने के लिए प्रेरणा देती है। वह हमारे अन्दर अहर्निश गुञ्जार करती है कि दुनिया हमें दगा दे सकती है, सब हमें धोखा दे सकते हैं, पर भगवान् धोखा नहीं दे सकते। आकांक्षा अंगारों पर भस्म हो जा सकती है पर अभीप्सा मुसकाती है। जिसके भीतर सच्ची अभीप्सा जगी है वह कोई माँग पेश करने के बदले सदा-सर्वदा पुलकित होकर कहेगा, 'तेरी इच्छा मेरे जीवन में पल्लवित, पुष्पित हो'—Let Thy will be done.

नीचे से उठेगी हमारी पुकार और ऊपर से उतरेगा भगवती माता का प्रसाद। संसार के प्रायः सभी धर्म किसी-न-किसी रूप में भगवत्प्रसाद को प्राप्त करने की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। ससीम जीव के लिए अपनी तपस्या के बल पर असीम को पाना असम्भव है। अन्य योगों में तो यह सम्भव हो भी सकता है पर पूर्णयोग की साधना की पूर्णता को अपने बल पर प्राप्त करना सम्भव नहीं। हमारा लक्ष्य भगवान् को पाना ही नहीं है बल्कि भगवदनुभूति की सम्पदा को बाहर प्रकट करना है—शरीर, प्राण, मन की वेदी पर आत्मा के सौन्दर्य, सत्य और शक्ति की मूर्ति को प्रतिष्ठित करना है। इस दिव्य छन्द से जीवन को झंकृत करने के लिए हमें पग-पग पर माँ की सहायता की आवश्यकता है।

शक्ति को मानने वाले प्रायः सभी पाश्चात्य दार्शनिक शक्ति को सृष्टिकारिणी तो मानते हैं पर उसे जननी के रूप में स्वीकार करना नहीं चाहते। वे इस शक्ति को जड़, निश्चेतन बताते हैं। पर श्रीअरविन्द के मतानुसार यह शक्ति

अखिल विश्व की सृष्टि का कारण और मूल स्रोत ही नहीं, बल्कि परम चैतन्यमयी, चित्स्वरूपा है। जैसे भगवान् विश्वातीत और विश्वव्यापी हैं वैसे ही आद्याशक्ति भी विश्वातीता और विश्वव्यापिनी माता है। हम जिसे जड़ प्रकृति कहते हैं वह इस आद्याशक्ति की ही अत्यन्त बाहरी अभिव्यक्ति है। प्रकृति की ऐसी कोई शक्ति नहीं जिस पर माँ का आधिपत्य न हो, जो माँ के इशारे से परिचालित और अनुशासित न होती हो। सत्य की, आनन्द की यह देवी ऊपर से ही शासन नहीं करती बल्कि मनुष्य के अत्यन्त निकट उतर आती है और हमें पूर्णता की ओर ले जाने के लिए—सर्वांग-सुन्दर बनाने के लिए—अनन्त काल तक अथक परिश्रम करने को तैयार रहती है। उसके प्रति जिन लोगों की प्रकृति खुल जाती है वह उसकी मध्यस्था होकर, असीम धैर्य के साथ उसके सारे अविद्याजन्य बन्धनों को काट कर उसे परम सत्य से मिला देती है। यह वह देवी है जो सदया, अभया और सदा सहाय रहने वाली है, पद-पद पर सँभालने वाली और हज़ारों चूक होने पर भी हमारा साथ देने वाली है। जो विपत्संकुल साधना-पथ पर निर्भय और निःशंक होकर विचरण करना चाहता है उसे चाहिये कि वह भगवती माँ का आशीर्वादरूपी रक्षाकवच प्राप्त करे। जीवन के शिशिर की निठुर रात को, अंगारे बरसाने वाले ग्रीष्म को, प्रलयंकरी वर्षा को सहर्ष सहन करने के लिए हमें चाहिये कि हम भगवती माँ की कृपा प्राप्त करें, उनकी कृपा पाने के योग्य बनें।

आत्म-समर्पण ही भगवत्प्रसाद प्राप्त करने का सबसे सहज और सुगम उपाय है। आत्म-समर्पण में ही वह सामर्थ्य है जो साधना को फूल के विकास की तरह सरल बना सकता है। हम जितनी मात्रा में भगवान् के प्रति आत्मोत्सर्ग करेंगे उतनी ही मात्रा में भगवान् हमारे होंगे—हमारी पकड़ में आयेंगे। जो सब दे सकता है वही सब पा सकता है। पर पूर्ण समर्पण करना बड़ा कठिन है। अर्जुन-जैसे पात्र को, जो कि भागवत कार्य करने के लिए ही धरा पर आये थे, सारी गीता कह जाने पर भगवान् ने गोपनीय से भी अतिगोपनीय कह कर यह मन्त्र दिया था—हम जैसे हैं, जो कुछ हैं, जो कुछ भी हमारे पास है, हमारा प्रत्येक अंग, मन, बुद्धि, प्राण, शरीर तथा जीवन के समस्त कर्म, वासना, कामना, संकल्प, विचार, स्वभाव, चेष्टा, वृत्तियाँ आदि जो कुछ भी हम हैं और हमारा है; किसी को

किसी भी कोने में छिपने का अवकाश दिये बिना ही, सभी को पूर्ण रूप से समर्पण करना होगा। हमारे अन्दर जहाँ अन्धकार है, वहाँ जो-जो छिपे बैठे हैं उन सबको भगवान् के प्रकाश में ला-लाकर एक-एक को समर्पण करना होगा। श्रीअरविन्द का कहना है कि आत्म-समर्पण का यह भाव यदि अपूर्ण रूप में भी स्थापित हो जाये तो फिर यौगिक क्रिया की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

हम पहले कह चुके हैं कि अभीप्सा की ऐसी ज्योति जलानी होगी जो भागवत शक्ति को उतार लाये। जहाँ अन्य योगों के योगी व्यक्तिगत तपस्या के बल पर धीरे-धीरे अग्रसर होते हुए साधना के अन्तिम सोपान तक पहुँचना चाहते हैं वहाँ पूर्णयोग के साधक का चरम लक्ष्य रहता है ऐसी अवस्था प्राप्त करना जिसमें व्यक्तिगत चेष्टा की कोई आवश्यकता न रहे। परन्तु इस अवस्था को प्राप्त करना हँसी-खेल नहीं। जब तक निम्न प्रकृति सक्रिय है तब तक वह दैवी शक्ति अबाध रीति से हमारे अन्दर अपना कार्य नहीं कर सकती। जब तक दैवी शक्ति कार्य करने नहीं लगती तब तक व्यक्तिगत चेष्टा की आवश्यकता रहेगी और वह आवश्यकता तब तक बनी रहेगी जब तक हमारे मन, प्राण और शरीर के—युगों से बन्द दरवाज़े —खुल नहीं जाते, हमारा रोम-रोम उस शक्ति को ख़ुशी से ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत नहीं हो जाता, उसका स्वागत करने के लिए लालायित नहीं हो उठता। परन्तु न हमारे मन-प्राण तुरत तैयार हो जाते हैं न व्यक्तिगत चेष्टा के स्थान पर किसी उच्च शक्ति का तुरत स्थापित होना ही सम्भव होता है। पूर्णयोग की इस क्रिया के तीन क्रम हैं—

पहले हमें अपने अंगों को उस शक्ति को ग्रहण करने के लिए तैयार करना पड़ता है। हमारे अन्य अंग न भी सही, मन और हृदय के योग में पदार्पण करने के बाद से ही हमें किसी प्रच्छन्न शक्ति की सहायता मिलने लगती है। प्रायः ही हम यह अनुभव करते हैं कि परदे के पीछे से किसी का गुप्त हाथ हमें किसी निर्दिष्ट दिशा की ओर लिये जा रहा है।

हम दूसरी अवस्था में तब पहुँचते हैं जब यह शक्ति खुल कर हमारे अन्दर खेलने लगती है और यह तभी होता है जब हमारा आत्म-समर्पण पूर्ण हो जाता है। यह मानवी और दैवी क्रिया के बीच की अवस्था है। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि पहली अवस्था का कहाँ अन्त

होता है और दूसरी का कहाँ से प्रारम्भ। पहली अवस्था की समाप्ति से पूर्व दूसरी अवस्था कुछ-कुछ शुरू हो जाती है और वह तब तक जारी रहती है जब तक दूसरी पूर्ण नहीं हो जाती; इस बीच समय-समय पर चरम अवस्था की भी झलक मिल सकती है।

तीसरी अवस्था में किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं होता, कोई नियत विधि नहीं होती, कोई बँधी-बँधायी साधना नहीं होती; हमारी तपस्या और प्रयत्न का स्थान पूर्णतया परमा शक्ति ग्रहण कर लेती है और यह इस बात का अचूक चिह्न है कि हमारा आधार रूपान्तर के लिए तैयार हो रहा है— हमारी शरणागति स्वीकार ही नहीं कर ली गयी बल्कि पुष्पित और मञ्जरित भी होने लगी है।

यहाँ यह ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि हम उस भागवत शक्ति को, जैसे हम चाहते हैं वैसे, ले चलने के लिए बाध्य नहीं कर सकते। वह शक्ति सम्पूर्ण कार्य माँ की इच्छा के अनुसार करेगी और वह हमें जब और जैसे घुमाना चाहे, तब और तैसे, बिना किसी भ्रम-संशय और अविश्वास के घूम जाने के लिए हमें तत्पर रहना होगा। जब हम उस शक्ति को अपने अन्दर बेरोक-टोक कार्य करने देंगे तब हमारी साधना इतनी शीघ्रता से चलने लगेगी कि हम स्वयं चकित हो जायेंगे। वह दैवी शक्ति जब किसी की साधना का भार ग्रहण करती है तब कहीं कोई सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भाग भी उसकी नज़र से बच नहीं सकता। वह जिसे निकालना चाहती है उसे निकाल फेंकती है, जिसे शुद्ध करना होता है उसे शुद्ध कर डालती है तथा जिसे लाना होता है उसे लाकर हममें भर देती है। जब हम उसके इन कार्यों से सचेतन होते हैं और प्रत्यक्ष देखने लगते हैं कि हमारे अन्दर क्या हो रहा है, हम पहले कहाँ थे, अब कहाँ हैं, पहले जो असम्भव-सा प्रतीत होता था अब वह कैसे सम्भव होने लग गया है तब साधना का एक-एक पल, जो पहले एक-एक युग-सा लगता था, स्वर्णिम क्षण-सा बीतने लगता है और तभी साधना के जीवन के आनन्द का कुछ-कुछ अनुभव होने लगता है।

(क्रमशः)

—स्व. नारायण प्रसाद 'बिन्दु'

*मेरी बाँहों का आश्रय लो, वे प्रत्येक चीज़ से तुम्हारी रक्षा करेंगी। मेरी सहायता की ओर खुली रहो, वह तुम्हें कभी निराश नहीं करेगी। —श्रीमाँ*

# एक साधिका के नाम पत्र

हम पृथ्वी के इतिहास के एक संक्रमणकालीन क्षण में हैं। यह शाश्वत काल में केवल एक क्षण है, लेकिन मानव जीवन की तुलना में यह मुहूर्त लम्बा है। जड़-भौतिक अपने-आपको नयी अभिव्यक्ति के लिए तैयार करने के लिए बदल रहा है, परन्तु मानव शरीर काफ़ी नमनशील नहीं है और प्रतिरोध करता है; इसी कारण अबोधगम्य अव्यवस्थाओं और रोगों की संख्या बढ़ती जा रही है और चिकित्साशास्त्र के लिए एक समस्या बन गयी है।

इसका उपाय है कार्यरत दिव्य शक्तियों के साथ ऐक्य और विश्वासी तथा शान्तिभरी ग्रहणशीलता जो कार्य को ज़्यादा सरल बना देती है।

१८ नवम्बर १९७१

जो आजकल प्रगति करना चाहते हैं उनके लिए बहुत विशेष अवसर है क्योंकि रूपान्तर शुरू होता है नयी शक्तियों की क्रिया की ओर चेतना के खुलने से। इस तरह व्यक्तियों को भागवत प्रभाव के प्रति अपने-आपको खोलने का अनोखा और अद्‌भुत अवसर प्राप्त है।

२० नवम्बर १९७१

व्यक्तिगत जीवन का प्रयोजन है, भगवान् को खोजने और उनके साथ एक होने का आनन्द। जब तुम यह बात समझ लो तब तुम सभी कठिनाइयों को पार करने की शक्ति पाने के लिए तैयार होते हो।

२२ नवम्बर १९७१

निम्न प्रकृति पर विजय किसी भी बाह्य सफलता की अपेक्षा अधिक गहरा और स्थायी आनन्द देती है।

२४ नवम्बर १९७१

श्रीअरविन्द ने हमें कुछ अद्‌भुत चीज़ें बतलायी हैं जिन्हें भविष्य धरती पर लायेगा और हमें प्रोत्साहन दिया है कि हम अपने-आपको उसके लिए तैयार करें।

२७ नवम्बर १९७१

हर एक के अन्दर अपना अहंकार होता है और सभी अहंकार एक-दूसरे से टकराते रहते हैं। आदमी स्वतन्त्र सत्ता तभी बन सकता है जब वह अहंकार से पीछा छुड़ा ले।

स्वतन्त्र होने के लिए तुम्हें पूरी तरह केवल भगवान् का ही होना चाहिये।

३ दिसम्बर १९७१

जीवन की कठिन घड़ियों में हर एक का अत्यावश्यक कर्तव्य है, भगवान् के प्रति समग्र, अप्रतिबन्ध आत्म-निवेदन में अपने अहंकार पर विजय पाना। तब भगवान् तुमसे वही करवायेंगे जो तुम्हें करना चाहिये।

४ दिसम्बर १९७१

परम प्रभो, अनन्त प्रज्ञा,

इस संकटमयी घड़ी में जब अहंकार टकरा रहे हैं और अपने अधिकारों पर डटे हैं, केवल 'तेरी' शरण में ही सुरक्षा है!

वर दे कि हमारे अन्दर कोई भी चीज़ 'तेरी इच्छा' की परिपूर्ति में बाधक न हो।

वर दे कि हम 'तेरी इच्छा' की परिपूर्ति में सचेतन और प्रभावकारी सहयोगी बनें।

५ दिसम्बर १९७१

धरती पर कठिन घड़ियाँ मनुष्यों को अपने तुच्छ निजी अहंकार को जीतने और सहायता तथा प्रकाश के लिए केवल भगवान् की ओर मुड़ने को बाधित करने के लिए आती हैं। मनुष्यों की बुद्धिमत्ता अज्ञानमय है। केवल भगवान् जानते हैं।

७ दिसम्बर १९७१

हमारी मानव चेतना में ऐसी खिड़कियाँ हैं जो शाश्वत में खुलती हैं। लेकिन मनुष्य साधारणतः इन खिड़कियों को सावधानी से बन्द रखते हैं। हमें उन्हें पूरी तरह खोल देना और शाश्वत को बेरोक-टोक अपने अन्दर आने देना चाहिये ताकि वह हमें रूपान्तरित कर सके।

खिड़कियाँ खोलने के लिए दो शर्तें ज़रूरी हैं :

१. तीव्र अभीप्सा।

२. अहंकार का उत्तरोत्तर विलय।

जो सच्चाई के साथ काम में लगते हैं उनके लिए भागवत सहायता निश्चित है।

८ दिसम्बर १९७१

व्यष्टिगत सत्ता को बनाने के लिए अहंकार ज़रूरी था, अतः उसका नाश कठिन है। इसका एक बहुत अच्छा यद्यपि ज़्यादा कठिन समाधान है : उसे रूपान्तरित करके भगवान् का यन्त्र बनाना।

जो अहंकार परिवर्तित और पूरी तरह भगवान् को निवेदित हो जाते हैं वे विशेष रूप से शक्तिशाली और प्रभावी यन्त्र बन सकते हैं।

प्रयास कठिन है और एक सम्पूर्ण और दृढ़ सच्चाई की माँग करता है, लेकिन जिनमें प्रबल इच्छाशक्ति, तीव्र अभीप्सा और निष्कम्प सच्चाई हो उनके लिए यह काम हाथ में लेने-योग्य है।

जैसे-जैसे काम आगे बढ़ता है, हर व्यक्ति के लिए विधि भी क्रियान्वित होती जाती है क्योंकि हर अहंकार का अपना स्वभाव होता है और हर एक को विशेष तरीक़े की ज़रूरत होती है।

सबके लिए जो गुण अनिवार्य हैं वे हैं, सम्पूर्ण अध्यवसाय और सच्चाई। अपने-आपको धोखा देने की ज़रा-सी वृत्ति भी सफलता को असम्भव बना देती है।

९ दिसम्बर १९७१

तुम्हारे लिए शुरू करने का सबसे अच्छा तरीक़ा है, अपनी चैत्य सत्ता को खोजो और उसे अपनी सभी आन्तरिक गतिविधियों का साक्षी बना कर उस पर एकाग्र होओ, तुम्हें जो कुछ करना और जो नहीं करना चाहिये उसे उसका निर्णायक बनाओ और अपनी बाह्य प्रकृति को उसके निर्णय के आधीन बनाने की कोशिश करो।

११ दिसम्बर १९७१

चैत्य सत्ता दिव्य उपस्थिति का व्यक्तिगत कोष है।

वह सभी विचारों के परे हमारे अन्दर की गहराई में पायी जाती है।

११ दिसम्बर १९७१

चैत्य के सन्देश मानसिक रूप में नहीं आते। वे विचार या तर्क-वितर्क नहीं होते। उनका अपना स्वभाव होता है, मन से एकदम अलग, एक ऐसी भावना की तरह जो अपने-आपको समझती और क्रिया करती है।

स्वभावतया ही चैत्य निश्चल, स्थिर, प्रकाशमय, समझदार, उदार, विस्तृत और प्रगतिशील होता है। वह सदा समझने और प्रगति करने का प्रयास करता है।

मन वर्णन करता और व्याख्या करता है।

चैत्य देखता और समझता है।

१३ दिसम्बर १९७१

चैत्य धरती पर अपने उत्तरोत्तर जीवनों में प्रगतिशील रूप के बारे में सचेतन होता है इसलिए उसे अपने पिछले जीवनों की महत्त्वपूर्ण घटनाओं की याद होती है।

चैत्य ने पृथ्वी पर अपने इन भौतिक जीवनों में जितना अधिक भाग लिया होगा उसकी स्मृतियाँ उतनी ही अधिक और यथार्थ होंगी।

१४ दिसम्बर १९७१

मनुष्यों के बीच में अकेलेपन का अनुभव करना इस बात का चिह्न है कि तुम अपनी सत्ता के अन्दर भगवान् की उपस्थिति के साथ सम्पर्क पाने की आवश्यकता अनुभव कर रही हो।

अतः तुम्हें नीरवता में एकाग्र होना चाहिये और सभी मानसिक क्रियाओं के परे अन्दर की गहराइयों में प्रवेश करके अपनी चेतना की गहराइयों में भागवत उपस्थिति को खोज निकालना चाहिये।

१६ दिसम्बर १९७१

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. ४७३-४७७

# साक्षात् उतर आये थे...

छोटी, सरल कहानियाँ कितनी सारगर्भित होती हैं यही दिखलाती है हमारी यह कथा—

नाम था उसका प्रियम्वदा। निर्धन माता-पिता की इकलौती सन्तान। सभी गुण प्रियम्वदा का सहारा लिये हुए हैं यह कहते-कहते उस गाँव के वासी अघाते न थे क्योंकि वह थी सर्वगुणसम्पन्ना और सबकी नेत्रतारा। माता-पिता की ईश्वर में अटूट भक्ति, थोड़े में भी पूर्ण आत्म-सन्तोष, जीवन को हर पल सादगी और सुघड़ता से जीने का गुर—सभी सद्गुण उसे विरासत में ही मिल गये थे और इन्हीं सद्भावों की आभा हमेशा उसकी आँखों में चमकती, उसके मुखमण्डल पर विराजमान रहती। पिता थे दक्ष मूर्तिकार —सौन्दर्य के उपासक, धन के पुजारी नहीं—जो रचते लोग दाँतों तले उँगली दबाये 'उत्तम' 'अद्भुत' 'कितनी सजीव' जैसे विशेषणों से सराह, खड़े-के-खड़े रह जाते—चाहे वह गरलपान करते हुए शिवशंकर हों, वीणा बजाती हुई देवी सरस्वती हों, मोदकप्रिय लम्बोदर हों या हों करुणानिधान महात्मा बुद्ध—सभी साक्षात् प्रतीत होते। ऐसे सुन्दर परिवेश और वातावरण में पली-बढ़ी प्रियम्वदा सचमुच सयानी थी, अपने माता-पिता की लाडली थी।

लेकिन उसकी हमउम्र कोई सहेली न थी। चौंक गये न बच्चो तुम यह सुन कर? कारण यह था कि उसका स्वभाव एकदम अलग था। उसकी उम्र की लड़कियों को सजना-मटकना, गुड्डे-गुड़ियों के ब्याह रचाना पसन्द था और प्रियम्वदा को यह सब बिलकुल नहीं भाता था। जिन बचकानी कहानी की किताबों पर उसकी सहेलियाँ जान छिड़कती थीं वे उसकी आँखों में किरकिरी बन चुभती थीं। प्रकृति की पुजारिनी वह घण्टों प्रकृति के साथ गुज़ारती। कलकलनाद करते हुए झरनों को दिन-रात मन्त्रमुग्ध देखती और सोचा करती—गुञ्जार करते हुए ये निर्झर सारे जगत् को असीम शान्ति का सन्देश सुनाते रहते हैं न! नीलाकाश में विचरते ये रूई जैसे बादल परियों और अप्सराओं की सेज हैं क्या? पक्षियों के साथ वह बतियाती, फूलों के संग चहकती और सारे दिन उसकी आँखों में सुन्दर-मनोहर सपने बसे रहते—तो ऐसी थी हमारी प्रियम्वदा।

एक दिन झरने के पास खेलते-खेलते उसकी दृष्टि एक चमकती चीज़

पर जा पड़ी। वह था ताँबे का एक नया सिक्का। उस ग़रीब बच्ची ने ऐसा चमचमाता सिक्का कभी न देखा था। दौड़ी-दौड़ी घर गयी, अपने माता-पिता को अपनी निधि दिखलायी तो वे भी उसकी ख़ुशी में पूरी तरह से शामिल हो गये। यद्यपि उस पैसे का बहुत अधिक मूल्य न था लेकिन बेटी का उत्साह देख उन्होंने कहा—"प्रिया, यह पैसा तुम्हारा ही हुआ, जब चाहो, जैसे चाहो इसे ख़र्च करना।" ख़ुशी-ख़ुशी प्रियम्वदा ने वह सिक्का अपनी छोटी-सी पेटी में यह सोच, सहेज कर रख दिया कि हम ग़रीब हैं, जब कभी माँ को ज़रूरत पड़ेगी मैं उन्हीं को सौंप दूँगी। मिठाई पर ख़र्च कर दूँ तो क्या फ़ायदा? पल, दो पल की मिठास के बाद पैसा हज़म...!! और वह स्वयं ही खिलखिला कर हँस पड़ी।

और वह उस पैसे के बारे में भूल गयी!

एक दिन सवेरे-सवेरे लोगों ने देखा कि बौद्ध भिक्षुक घर-घर जाकर फेरी लगा रहे हैं। पता चला कि वे बुद्ध भगवान् की बहुत बड़ी मूर्ति गढ़ने के लिए गाँव-गाँव जाकर धन जमा कर रहे हैं। ऐसे पुण्य-कर्म में कौन पीछे हटता? सबने बढ़-बढ़ कर सामर्थ्य के अनुसार दिया। उस रोज़ अचानक प्रियम्वदा को अपने सिक्के की याद हो आयी। भागी-भागी अन्दर गयी, पेटी से चमचमाता सिक्का निकाल लायी। एक ओर खड़े एक भिक्षुक के हाथ में बड़ी आतुरता से वह रख दिया... भिक्षुक ने वह मुद्रा उलट-पलट कर देखी, हलका-सा मुस्कुराया और उस पैसे को वापस देते हुए बोला—"बच्ची, एक पैसे का यह सिक्का हमारे काम नहीं आयेगा, इसका तो कोई मूल्य ही नहीं है।"

और वह अपने दल के साथ आगे हो लिया...।

प्रियम्वदा का अंग-प्रत्यंग काठ का बन गया। फिर उसकी मोटी-मोटी आँखों से ऐसी अश्रुधारा बही कि अपने-आपको सम्भालने में असमर्थ वह माता-पिता के अंक में जा समायी। उनकी जिस बेटी का आँसू, उदासी शब्दों से कोई परिचय न था वह आज फफक-फफक कर रो रही थी। माता-पिता को पहली बार उस दिन अपनी निर्धनता का दुःख हुआ, लेकिन पिता शीघ्र ही स्वस्थ हो, बेटी को अपने सीने से लगाये बोले—"मेरी बच्ची, इन्सान के द्वारा ठुकराया तेरा दान देखना भगवान् ज़रूर स्वीकार करेंगे।"

पिता की बात साढ़े सोलह आने सच निकली!! भिक्षुकों के द्वारा इकट्ठे

धन से भगवान् बुद्ध की महान् प्रतिमा गढ़ी गयी, कहाँ-कहाँ से कारीगर नहीं आये। लेकिन... उस निर्दोष प्रतिमा में एक दोष उभर आया! मूर्ति के ठीक वक्षस्थल में एक दरार पड़ गयी!! उस दरार को भरने के लिए मूर्तिकारों ने जी-जान लगा दिया, कई दिन स्वाहा हो गये, लेकिन वह न भरनी थी न भरी। दूसरी, तीसरी, चौथी बार मूर्ति बनी, लेकिन अन्तिम क्षण वह दरक पड़ ही जाती! किसी की कुछ समझ में नहीं आ रहा था, अन्त में उन्होंने अपने गुरुदेव के चरणों की शरण ली। गुरु ध्यानस्थ बैठ गये। आँखें खोलने पर उनकी वाणी फूटी—"क्या तुममें से किसी ने, किसी का भी दान लेना अस्वीकार किया?" सब आश्चर्यचकित एक-दूसरे का मुँह देखने लगे। अचानक एक भिक्षुक बोल उठा—"गुरुदेव! मुझे याद पड़ता है, मैंने गाँव की बच्ची का ताँबे का एक पैसे का सिक्का निर्मूल्य कह कर इसलिए लौटा दिया था कि सचमुच वह हमारी कोई मदद नहीं कर सकता था।"

"और वही सबसे मूल्यवान् ठहरा!" गुरुदेव की शान्त वाणी गूँज उठी। "जाओ, ससम्मान उस बालिका को उसके उस बहुमूल्य दान के साथ यहाँ लाओ, जब तक उसका स्पर्श न होगा मूर्ति अपूर्ण रहेगी। भगवान् बुद्ध तुम्हारी पूजा स्वीकार न करेंगे।"

भिक्षुकों का दल-बल प्रियम्वदा के द्वार पर दस्तक देने निकल पड़ा...। क्षमायाचना के बाद बड़े सम्मान के साथ प्रियम्वदा को परिवार-सहित लाया गया। अपनी छोटी-सी मुट्ठी में बन्द वह अपूर्व दान गुरुदेव के चरणों में उसने समर्पित कर दिया। मूर्तिकार पिता भी नयी मूर्ति बनाने के दल के साथ जुड़ गये।

इस बार बुद्धदेव की जो मूर्ति बनी तो सबने अहोभाव से देखा—विशालकाय मूर्ति के ठीक वक्षस्थल पर जड़ा एक पैसे का ताँबे का छोटा-सा सिक्का जो अपनी आभा से मूर्ति के अंग-प्रत्यंग को दमका रहा था। और साथ ही सबने यह भी साफ़-साफ़ देखा कि ख़ुशी के आँसुओं से भरी नन्हीं प्रिया की आँखों में भगवान् बुद्ध साक्षात् उतर आये थे...

'पुरोधा' मार्च २००८ से —वन्दना

*सरलता! निस्सन्देह, महान् है तेरा सौन्दर्य! —श्रीमाँ*

उनकी कृपा का स्पर्श कठिनाई को सुयोग में, विफलता को सफलता में और दुर्बलता को अविचल बल में परिणत कर देता है। भगवती माँ की कृपा परमेश्वर की अनुमति है, आज हो या कल, उसका फल निश्चित है, पूर्वनिर्दिष्ट अवश्यंभावी और अनिवार्य है ।

— श्रीअरविन्द

अमरनाथ शिक्षण संस्थान, मथुरा (उ.प्र.)

फोन– 0565–3240006, 9358340375

Website : anvaschool.org, Email-amarnath.mtr1@rediffmail.com

Registered: PY/47/2018-20
RNI No.18135/70

Date of Publication: 1st June 2018
Rs. 15.00 (Monthly)

A school by The Vatika Group vatika

# Nature Friendly

"My child is in Grade 2. My son's journey with this school started 3 years back.

What really drew me to the school at the first instance is the calmness that prevails in the atmosphere!

Being a doctor myself, it was very important for me that the school environment should be healthy – class rooms in MatriKiran are the most nature friendly, spacious, well ventilated, they open out to green spaces .. perfect to stay in communion with nature."

***Dr. Nidhi Gogia***
*Mother of Soham Sharma, Grade 2*

**ADMISSIONS OPEN**
**Academic Year 2017-18**

ICSE Curriculum

MatriKiran
www.matrikiran.in

*Junior School* SOHNA ROAD
Pre Nursery to Grade 5

*Senior School* VATIKA INDIA NEXT
Grade 6 to Grade 9

**Junior School**
W Block, Sec 49, Sohna Rd, Gugaon
+91 124 4938200, +91 9650690222

**Senior School**
Sec 83, Vatika India Next, Gugaon
+91 124 4681600, +91 9821786363